TEXT CUT WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182136

UNIVERSAL
LIBRARY

दीवाला

P—787—13-6-75—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

l No. ११८७.१ Accession No. P.G.H5871

thor ब्रह्मे, राजेन्द्रसिंह

le ब्रह्मलोक. १९८०.

is book should be returned on or before the date last marked below.

दीवाला

दीवाला हिन्दी में बेदी की कहानियों का दूसरा संग्रह है, जिनका रंग और शिल्प बेदी का अपना है और उसका अनुकरण कठिन है।

दीवाला में बेदी की कुछ महत्वपूर्ण कहानियाँ संकलित हैं, जो देश-विदेश से प्रशंसा पा चुकी हैं।

दीवाला

राजेन्द्र सिंह बेदी

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १९६०

मूल्य [redacted]

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन—५. खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद

मुद्रक
पियरलेस प्रिंटर्स—नया बैरहना, इलाहाबाद

अनुक्रम

गुलामी : ६
घर में : बाज़ार में : २५
कोख जली : ३७
ज़ैनू : ५४
स्पर्श : ७६
जब मैं छोटा था : ८६
शीतला के दाग़ : ९६
ग्रहण : १०९
सफ़र : १२१
लारवे : १३४
दीवाला : १४४

कौशल्या अश्क के नाम

*

गुलामी

आखिर तैंतीस वर्ष की लम्बी नौकरी के बाद पेंशन पाकर पोल्होराम घर पहुँचा। घर के सब छोटे-बड़े प्रतीक्षा-रत थे और उसकी पत्नी सरसों का तेल लिये खड़ी थी—कब पोल्होराम आये और वह ड्योढ़ी लाँघने से पहले चौखट पर तेल गिरा दे और फिर नौबत, अपने बड़े बेटे को संकेत करे कि वह फूलों की माला अपने बूढ़े बाप के गले में डाल दे। और सरसों का तेल गिराने के बाद, हारों से लदे-फँदे पोल्होराम के गले में नौबत ने भी एक हार पहना दिया।

चौखट पर क़दम रखते हुए पोल्होराम सोच रहा था—ये फूल कितनी दूर-दूर से आये होंगे और फुलेरे ने इन सब को एक धागे में पिरो दिया होगा और इन फूलों के भाग्य में बदा होगा कि ये मेरे गले की शोभा बनें.... मेरे सम्मान के लिए एकत्र हों.... और दफ़्तर में कितने बाबू इकट्ठे हो रहे थे। कोई मियाँवाली का मेहता था, कोई भम्बरकोट का बट्ट—जैसे दूर-दूर से आये हुए फूल थे, जिन्हें भाग्य के फुलेरे ने इकट्ठा कर दिया था—मेरे सत्कार के लिए, मेरे सम्मान के लिए!

पोल्होराम का रिटायर होना भी एक नाटक था। नौकरी से

कौशल्या अश्क के नाम

अवकाश प्राप्त करने के बाद जब वह घर आने के लिए सड़क पर हो लिया तो उसे विश्वास न होता था कि वह अवकाश प्राप्त कर चुका है और उस सुर्मयी-स्याह सड़क पर, जिस पर सैकड़ों बार दफ़्तर आया है, अब महीने में एक बार आया करेगा—पेन्शन लेने के लिए ! फ़ुट-पाथ पर पाँव रखते हुए उसने अपने पीछे दफ़्तर की सुन्दर मेहराबो की ओर देखा। स्टेपल मे बड़ा क्लॉक बिगड़ा हुआ था।—'छिः !' पोल्होराम ने क्लॉक की ओर देखते हुए कहा—'साला पहले दिन से ही बिगड़ा हुआ है। कभी ठीक नहीं हुआ। जब मैं नया-नया डाक के इस विभाग मे नौकर हुआ, तब भी एक घड़ीसाज़ घण्टो की सुई को मिनटो की सुई से मुक्त करने के लिए क्लॉक तक पहुँचने वाली सीढ़ी पर रेंग रहा था।"

सीतो ने सोच में डूबे पति के कंधे को छूते हुए कहा, "छोटी बहू आयी है... और बधाई देती है।"

पोल्होराम मुस्कराया और भावुकता की एक हल्की-सी धारा में बह गया—'छोटी बहू बधाई देती है....छोटी बहू हई बड़ी अच्छी, दोनो बड़ी बहुओ से अच्छी है। उसकी नसों मे शरीफ़ो का खून दौड़ता है। बड़े बेटो के विवाह के समय मेरे पास इतना धन ही कहाँ था कि कौल परिवार से सम्बन्ध की आशा रखता।'

और जब सीतो ने पोल्होराम को हार उतार देने को कहा तो पोल्होराम गिलहरी का-सा स्वर निकलते हुए हँसा और बोला—"हाँ नौबत की माँ....ये भी मेरी तरह अपनी नौकरी से छुट्टी पा चुके हैं।.. ही ही....मानो इन्हे भी अब पेन्शन मिल जानी चाहिए. ही ही ही ...।"

दिये जलने पर लाल चौक के बहुत से आदमी बधाई देने के लिए आये। पोल्होराम के घर मे एक कुआँ था, जिसका आधा भाग लाल

चौक में खुलता था ! मुसलमानों और शूद्रों के अतिरिक्त सब लोग उसमें से बाहर ही से पानी ले जाते थे। जब लाल चौक के आदमी आये तो पोल्होराम कुएँ की भीतरी मुँडेर के पास एक खाली स्थान को धोते हुए उसमें ठाकुरों की स्थापना कर रहा था....अब, जब कि वह नौकरी से अवकाश प्राप्त कर चुका है, वह प्रातः-सायं ठाकुरों के सामने खड़तालें बजाया करेगा और ब्रह्मानन्द के भजन गायेगा। तैंतीस वर्ष की लम्बी नौकरी में पूजा-पाठ का समय ही कहाँ था।

फिर उसने लाल चौक के लोगों को बताया कि वह किसी बड़े-से-बड़े साहब की धौंस नहीं सहता था। हार्डेकर साहब से तो उसकी लड़ाई ही हो गयी थी। एकाउण्ट का छोटा-सा मामला था। उन दिनों वह सेलेक्शन ग्रेड का पोस्ट मास्टर था और उस ग्रेड के पोस्ट मास्टर की बड़ी ताक़त होती है।

"मैंने हार्डेकर साहब से कहा," पोल्होराम बड़ी शान से स्टूल पर बैठते हुए बोला, "क्या आप इस मामले में दखल देकर मेरी पावर को रद्द कर सकते हैं ? पहले तो वह न माना और मामला पोस्ट मास्टर जनरल तक जा पहुँचा, पर जीत तो मेरी ही होनी थी। इसके बाद वही साहब मेरे दफ़्तर के मुआयने को आया। सब लोगों का ख़याल था कि उस झगड़े के कारण साहब मेरे खिलाफ़ बहुत कुछ लिखेगा जिससे मेरी पेन्शन में फ़र्क़ पड़ जायेगा, और क्या ताज्जुब जो मुझे डी० ग्रेड या अनफ़िट ही कर दे। लेकिन उसने मेरी काफ़ी से ज़्यादा तारीफ़ की।....जनाब ये अंग्रेज़ लोग दिल के बड़े उदार होते हैं। ये बहादुरों की क़द्र करना जानते हैं और ऐसा करते हुए वे पुराने, ज़लील झगड़ों को भूल-भाल जाते हैं। मैंने बचपन में भूगोल या शायद इतिहास में पढ़ा था कि अंग्रेज़ी राज में सूरज कभी नहीं डूबता.... हालाँकि मैं इसका मतलब नहीं जानता, फिर भी मेरी ईश्वर से यही

अवकाश प्राप्त करने के बाद जब वह घर आने के लिए सड़क पर हो लिया तो उसे विश्वास न होता था कि वह अवकाश प्राप्त कर चुका है और उस सुर्मयी-स्याह सड़क पर, जिस पर सैकड़ों बार दफ़्तर आया है, अब महीने में एक बार आया करेगा—पेन्शन लेने के लिए ! फ़ुट-पाथ पर पाँव रखते हुए उसने अपने पीछे दफ़्तर की सुन्दर मेहराबों की ओर देखा। स्टेपल में बड़ा क्लॉक बिगड़ा हुआ था।—'छिः !' पोल्होराम ने क्लॉक की ओर देखते हुए कहा—'साला पहले दिन से ही बिगड़ा हुआ है। कभी ठीक नहीं हुआ। जब मैं नया-नया डाक के इस विभाग में नौकर हुआ, तब भी एक घड़ीसाज़ घण्टों की सुई को मिनटों की सुई से मुक्त करने के लिए क्लॉक तक पहुँचने वाली सीढ़ी पर रेंग रहा था।"

सीतो ने सोच में डूबे पति के कंधे को छूते हुए कहा, "छोटी बहू आयी है....और बधाई देती है।"

पोल्होराम मुस्कराया और भावुकता की एक हल्की-सी धारा में बह गया—'छोटी बहू बधाई देती है....छोटी बहू हई बड़ी अच्छी, दोनों बड़ी बहुओं से अच्छी है। उसकी नसों में शरीफ़ों का खून दौड़ता है। बड़े बेटों के विवाह के समय मेरे पास इतना धन ही कहाँ था कि कौल परिवार से सम्बन्ध की आशा रखता।'

और जब सीतो ने पोल्होराम को हार उतार देने को कहा तो पोल्होराम गिलहरी का-सा स्वर निकलते हुए हँसा और बोला—"हाँ नौबत की माँ....ये भी मेरी तरह अपनी नौकरी से छुट्टी पा चुके हैं।....ही ही....मानो इन्हें भी अब पेन्शन मिल जानी चाहिए....ही ही ही....।"

दिये जलने पर लाल चौक के बहुत से आदमी बधाई देने के लिए आये। पोल्होराम के घर में एक कुआँ था, जिसका आधा भाग लाल

चौक में खुलता था ! मुसलमानों और शूद्रों के अतिरिक्त सब लोग उसमें से बाहर ही से पानी ले जाते थे। जब लाल चौक के आदमी आये तो पोल्होराम कुएँ की भीतरी मुँडेर के पास एक खाली स्थान को धोते हुए उसमें ठाकुरों की स्थापना कर रहा था....अब, जब कि वह नौकरी से अवकाश प्राप्त कर चुका है, वह प्रातः-सायं ठाकुरों के सामने खड़तालें बजाया करेगा और ब्रह्मानन्द के भजन गायेगा। तैंतीस वर्ष की लम्बी नौकरी में पूजा-पाठ का समय ही कहाँ था।

फिर उसने लाल चौक के लोगों को बताया कि वह किसी बड़े-से-बड़े साहब की धौंस नहीं सहता था। हार्डेकर साहब से तो उसकी लड़ाई ही हो गयी थी। एकाउण्ट का छोटा-सा मामला था। उन दिनों वह सेलेक्शन ग्रेड का पोस्ट मास्टर था और उस ग्रेड के पोस्ट मास्टर की बड़ी ताक़त होती है।

"मैंने हार्डेकर साहब से कहा," पोल्होराम बड़ी शान से स्टूल पर बैठते हुए बोला, "क्या आप इस मामले में दखल देकर मेरी पावर को रद्द कर सकते हैं ? पहले तो वह न माना और मामला पोस्ट मास्टर जनरल तक जा पहुँचा, पर जीत तो मेरी ही होनी थी। इसके बाद वही साहब मेरे दफ़्तर के मुआयने को आया। सब लोगों का खयाल था कि उस झगड़े के कारण साहब मेरे खिलाफ़ बहुत कुछ लिखेगा जिससे मेरी पेन्शन में फ़र्क़ पड़ जायेगा, और क्या ताज्जुब जो मुझे डी० ग्रेड या अनफ़िट ही कर दे। लेकिन उसने मेरी काफ़ी से ज़्यादा तारीफ़ की।....जनाब ये अंग्रेज़ लोग दिल के बड़े उदार होते हैं। ये बहादुरों की क़द्र करना जानते हैं और ऐसा करते हुए वे पुराने, ज़लील झगड़ों को भूल-भाल जाते हैं। मैंने बचपन में भूगोल या शायद इतिहास में पढ़ा था कि अंग्रेज़ी राज में सूरज कभी नहीं डूबता.... हालाँकि मैं इसका मतलब नहीं जानता, फिर भी मेरी ईश्वर से यही

प्रार्थना है कि अंग्रेज़ी राज में सूरज कभी न डूबे....और देखिए, अगर उसकी जगह कहीं कोई देसी अफ़सर होता तो बड़ी नीचता से पेश आता। मेरी ज़िन्दगी बरबाद कर देता। भगवान करे इन देसी लोगों का सूरज कभी उदय न हो!"

शाम को जब पोल्होराम भोजन करने के लिए बैठा तो उसके बेटे, उसकी बहुएँ उसके चारों ओर इकट्ठी हो गयीं। जाने किसने यह चर्चा छेड़ दी। शायद छोटी बहू ने ही छेड़ी होगी। वही कौल परिवार की लड़की थी। अपनी नन्हीं बच्ची को ऊन का कोट पहनाते हुए बोली, "और तो और, मैं हैरान होती थी, पिता जी कैसे कड़ाके की सर्दी में सवेरे ही नहा लेते थे। साल के तीन सौ पैंसठ दिनों में से एक भी तो नाग़ा न हुआ।"

पोल्होराम उँगलियाँ चाटते हुए बोला—"मैं अपनी नौकरी का बहुत पाबन्द था बेटा! और इस तैंतीस बरस के लम्बे अर्से में कोई ही ऐसा अवसर होगा जब मैं नहाया न होऊँ और सुबह ही नहाकर दफ़्तर न गया होऊँ। मेरे सब अफ़सर मुझसे बहुत खुश थे।"

दमयन्ती बहू भी कोई बात करना चाहती थी। बोली, "हम जवानों से तो पिता जी अच्छे हैं। देखो तो, हम अब भी कैसे खा-फूटकर पड़ी रहती हैं। आठ बजे से पहले करवट नहीं बदलतीं, और आप हैं कि आंले पड़े पर भी नहा लिया और झट से काम पर भी चले गये।"

पोल्होराम दमयन्ती को उसके देर से उठने की आदत पर बहुत बुरा-भला कहा करते थे। लेकिन इस समय वे नहाते हुए कौवे की तरह फूल गये। बोले, "बेटा! तुम्हें काहे की पड़ी है। हमारे जीते-जी खूब हँसो, खेलो, सोओ....जैसे तुम्हारे माँ-बाप मायके में थे, वैसे यहाँ भी हैं।"

बड़ी बहू की आँखें भीग गयीं। पोल्होराम ने पर्दे के कारण नहीं

देखा, लेकिन सीतो ने बहू की डबडबायी आँखें देख लीं। कहाँ तो वह बड़ी बहू से लड़ती ही रहती थी, कहाँ उसने बर्तन माँझना छोड़ कर अपने राखभरे हाथ झाड़े और बहू को बग़ल में लेती हुई बोली—"और तो क्या झूठ कहते हैं ? तुम क्या जानो हम तुम्हें कितना प्यार करते हैं। बस जरा तुम्हारी जबान काबू में हो जाये! न जाने उस बखत क्या हो जाता है तुम्हें ?"

दमयन्ती बड़ी श्रद्धा से बोली—"मैं तो विनती करती हूँ ईश्वर से कि आपकी छत्र-छाया सात जनम तक हमारे सिर पर बनी रहे। आप मारते हैं, प्यार भी तो करते हैं। जो प्यार करे, वह मारे-झिड़के लाख बार !"

जाने छोटी बहू को ईर्ष्या हुई। बोली, "पिता जी ने मुझे प्रयाग ले जाने का वायदा किया है।"

अब तक बाबू पोल्होराम दमयन्ती की भावनाओं को जान चुके थे। उनकी आँखें भी डबडबा आयीं। कहने लगे, "छोटी बहू को ज़रूर प्रयाग ले जाऊँगा। हाँ नौबत की माँ, मैंने इससे वायदा किया है। और बड़ी को भी ले चलूँगा। और मँझली को भी....फिर क्या तुम पीछे रह जाओगी नौबत की माँ ? खुले मौसम में सभी को ले चलूँगा....।"

और पोल्होराम की बात-चीत से यही लगता था कि सचमुच सब को प्रयाग ले ही तो जायगा। वह बड़े घर की लड़की इस वायदे की यथार्थता को खूब जानती थी। जब वह नयी-नयी ब्याही आयी थी, तब भी तो पिता जी ने कंगन का वायदा किया था। और अब कहाँ गया वह वायदा ?

अगले दिन भी पोल्होराम की आँख पाँच ही बजे खुल गयी। उसने सोचा वह इतनी जल्दी जाग कर आख़िर क्या करेगा? उसने एक हाथ से रंगपुरी छींट का पर्दा उठाया और खिड़की के शीशों में से लाल चौक की ओर झाँका। कमेटी की बत्तियों को बुझाने के लिए कमेटी का नौकर सीढ़ी को कन्धे पर रखे, धीरे-धीरे पाठाशाला की ओर जा रहा था। बत्तियों के निरीह प्रकाश में दूर एक भैंसा गाड़ी अपनी सम्पूर्ण भारतीय मन्द गति से रेंग रही थी। इन गाड़ियों के लिए न्यूमेटिक टायर सप्लाई करने का प्रस्ताव दो वर्ष से कमेटी में रखा जा रहा था। इसके बावजूद कमेटी और भैंसा गाड़ी दोनों की इच्छा थी कि वह दिन होने से पहले-पहले नगर की सीमा से बाहर हो जाये। पोल्होराम ने अपना सिर लिहाफ़ में लपेट लिया और सोने का जतन करने लगा। लेकिन नींद न आयी। वह उठ खड़ा हुआ और हमेशा की तरह बोला—"सीते! उठो न मुझे चाय बना दो!"

सीतो पूर्ववत् चाय बनाने के लिए उठ खड़ी हुई। लेकिन जैसे ही उसके पाँव ठण्डी खड़ाऊँ में घुसे, उसे कुछ याद आ गया। बोली—"किधर जा रहे हैं आप?....कोई दफ़्तर तो जाना नहीं, पड़े रहिए चुपके से....!"

पोल्होराम बोला, "किधर जा रहा हूँ मैं?....हा हा!....अरी पगली! सैर करने भी न जाऊँ?"

पर सीतो ने तो सोचा था कि उनके पेन्शल पाने पर वह भी सुबह की चाय के झंझट से छूट जायेगी और अपनी बहुओं की तरह बड़े मज़े से अपने पति की बग़ल में पड़ी रहेगी। पर उसका यह विचार ग़लत निकाला। पेन्शन तो केवल पुरुषों को मिलती है। कभी स्त्री को भी पेन्शन मिली है?....घर में तो रोज़ नौकरी होती है और रोज़ पेन्शन। उसे उठने में अधिक कठिनाई न हुई। पोल्होराम ने उसी समय कपड़े

उतारे और रोज़ की तरह जल्दी-जल्दी पानी के कुछ डोल निकाल कर शरीर पर उँडेल लिये।

चाय पीने के बाद पोल्होराम ने इतने ऊँचे सुर में ब्रह्मानन्द के भजन गाये कि सारा घर जाग उठा। बहुएँ बड़बड़ाने लगीं और बच्चे रोने लगे। पाठ के बाद पोल्होराम सैर के लिए निकला। एक-दो घण्टे तक वह 'रेवाज़ गार्डन' की सड़कों पर घूमता रहा। लेकिन रेवाज़ गार्डन से बड़ा डाकखाना—उसका पुराना दफ्तर—दूर नहीं था। पोल्होराम के क़दम उसी तरफ़ उठ गये। उसकी दशा उस साँप की तरह थी जो बहुत समय तक केंचुली में मुर्दों से भी बुरी दशा में रहकर जब अपनी केंचुली को उतार फेंकता है तो बहुत दूर भाग जाता है। लेकिन फिर एक बार उसे देखने के लिए ज़रूर लौटता है और सोचता है—इस कम्बख्त ने मुझे सुस्त बना रखा था? मेरी आँखें कमज़ोर कर दी थीं। मैं अच्छी तरह से चल भी न सकता था। इस केंचुली ने ....इस झिल्ली ने....इस चमकती हुई घृणित झिल्ली ने?

डाकखाने के सामने पहुँचकर पोल्होराम कुछ देर तक खड़ा रहा। उसके सामने गाड़ियाँ लाल वर्दी पहने पंक्ति-बद्ध खड़ी थीं और उन पर नया पालिश किया हुआ 'जी० आर० आई' चमक आया था। चिट्ठियों के कमरे में सार्टिंग पोस्ट मैन एक मशीन की-सी तेज़ी से चिट्ठियाँ दरबों में फेंक रहे थे। पोल्होराम ने कहा—इन्हीं चिट्ठियों ने तो मुझे भगवान भुला दिया था। यहीं मुझे दमे की शिकायत शुरू हुई थी। ....आज मैं एक पक्षी की तरह आज़ाद और बेनियाज़ हूँ। इसी दफ़्तर में मैं सुबह तारों की छाँव में आता और रात तारों की छाँव में लौटता। बीच में दो-ढ़ाई घण्टे की छुट्टी होती, लेकिन वह भी ऐसी कि न तो दफ़्तर में रह सकूँ और न घर जा सकूँ। अगर घर जाता तो शाम की हाज़िरी में देर हो जाती और अगर दफ़्तर ही रहता तो भूखों मरता।

इसी लिए तो मैं रोटी भी दफ्तर ही ले जाने लगा था।....और साँझ के समय जब किसी बाबू के हिसाब में फर्क़ पड़ता तो रात के दस-ग्यारह बज जाते। और पोल्होराम इन सब बातों का अभ्यस्त हो चुका था। कभी-कभी ऐसा होता कि काम समाप्त करने के बाद भी वह दफ़्तर की मेज़ पर टाँगें धरे बैठा रहता। उसका विचार था कि देर तक काम करने वाले से साहब लोग बहुत प्रसन्न रहते हैं। उसकी आँखों के सामने परिन्दे सारा दिन नगर और उसके आस-पास दाना-दुनका चुगने के बाद सहज-ज्ञान से घर की ओर बेतहाशा खिचे चले जाते दिखायी देते थे। लेकिन पोल्होराम ने अपनी समस्त प्राकृतिक भावनाओं को इन अप्राकृतिक आवश्यकताओं के अधीन कर दिया था। और उसमें घर जाने की स्वभाविक भावना मर चुकी थी। जब दफ़्तर के शेष बाबू चले जाते और भंगी बत्तियाँ बुझाने के लिए हाल के दूसरे सिरे से आता दीखता तो पोल्होराम को अनुभव होता कि वहाँ उसके पड़ रहने के लिए कोई जगह नहीं है और अब घर जाने के सिवा कोई चारा नहीं। उस समय वह अपनी लोहे की छड़ी, जिस पर से सारा पालिश उड़ चुका था, खोजता और घर की ओर चल देता और दफ़्तर से घर जाने की जगह उसे ऐसा लगता जैसे वह घर से दफ़्तर जा रहा है।

मेल मोटरों का अस्तबल बहुत पुराना हो चुका था और लम्बी-लम्बी झिरियाँ अस्तबल से रिकार्ड-रूम तक चली गयी थीं। पोल्होराम ने सोचा, अभी कल ही तो उसने मरम्मत के सिलसिले में पोस्ट मास्टर जनरल के दफ़्तर को चौथा रिमाइंडर भेजा था। शायद उसका उत्तर आ चुका हो। उस केस का जवाब जानने की प्रबल इच्छा उसे हुई, पर वह एक-दो क़दम चलकर रुक गया। उसे क्या?.... चाहे भूकम्प आ जाय और सारे-का-सारा रिकार्ड-रूम नीचे आ रहे और समस्त आवश्यक तथा अनावश्यक रिकार्ड नष्ट हो जायें, उसको

बला से ! वह तो अब इस केंचुली को उतार चुका था।

पोल्होराम ने सोचा, काम करने वाले की क़द्र उसके बाद होती है। मैं बारह घण्टे की लगातर नौकरी देता था। अब विभाग को मेरे जैसा वफ़ादार आदमी कहाँ मिलेगा ? जब भी कभी साहब आवाज़ देता, तुरन्त मेरा उत्तर पहुँचता—'जी हुज़ूर !'....और साहब मुझसे कितना प्रसन्न था। कहता था—'पोल्होराम कितना पाबन्द आदमी है। सब हिन्दुस्तानियों को ऐसा ही होना चाहिए—पाबन्द ! हमने बहुत रात गये इसे काम करते देखा है। इससे दफ़्तर की एफ़ीशेन्सी बढ़ती है। हम इसकी एक्सलरेटेड प्रोमोशन की सिफ़ारिश करेगा।'

पोल्होराम ने सोचा, अब काम करते होंगे और अपनी जान को रोते होंगे। सहसा पोल्होराम को ध्यान आया कि जिस व्यक्ति को उसने चार्ज दिया है, वह तो एक दम बौड़म है। सेक्रेटेरियट आफ़िस के दो केस हैं, जिन्हें मेरे सिवा कोई दूसरा कर ही नहीं सकता। उसे मेरी ज़रूरत किस शिद्दत से महसूस होती होगी। धीरे-धीरे पोल्होराम उस कमरे की ओर हो लिया जहाँ वह रोज़ बैठा करता था।

दूर खिड़की में पोल्होराम को अपने उत्तराधिकारी का सिर नज़र आने लगा। वह काग़ज़ों पर झुका हुआ कुछ लिख रहा था। इसके बाद वह झट उठा और किसी ज़रूरत से बरामदे की ओर चला आया। पोल्होराम ने भाग जाना चाहा, लेकिन वह भाग न सका।

सहसा उसके उत्तराधिकारी की दृष्टि पोल्होराम पर पड़ी और उसने मुस्कराते हुए कहा—"हलो पोल्होराम जी !....क्या हाल है आपका ?"

"अच्छा है !" पोल्होराम ने उत्तर दिया।

"कैसे पधारे आप ?"

"यों ही....ख़त डालने चला आया था।"

इसके बाद वह बाबू हँसा और पास ही के एक कमरे में गुम हो गया। उसने फ़ाइलों के सम्बन्ध में पोल्होराम से कुछ पूछा ही नहीं। पोल्होराम बड़ा चकित था—'मुझे क्या ? मेरे लिए अब फ़ाइलें चाहे साल भर बिना जवाब दिये पड़ी रहें। बच्चा जी को चार्जशीट लगेगा, तरक़्क़ी रुक जायेगी, फिर मज़ा आयेगा।'

पोल्होराम के पैर, जो सैर के कारण थक गये थे, अब घर की ओर उठने लगे। लेकिन उसे फिर ध्यान आया, 'क्या ताज्जुब जो बाबू को उन काग़ज़ों के सम्बन्ध में, जो मैंने निचली ड्रार में 'गुप्त' का निशान लगाकर रखे थे, कुछ पता ही न हो। नेकी कर और कुएँ में डाल ! उसने अगर नहीं पूछा तो मैं ही बतला दूँ, आख़िर इसमें हर्ज ही क्या है ? वह मेरा उपकार ही मानेगा,' और पोल्होराम अपने उत्तराधिकारी की व्यंग्यमयी मुस्कान को भूल ही गया।

जब हिम्मत करके पोल्होराम ने अपने उत्तराधिकारी को काग़ज़ों के सम्बन्ध में सहेजा तो उसे पता चला कि उसने सारे काग़ज़ दराज़ में से निकाल लिये थे और उनका उपयुक्त उत्तर भी दे चुका था। पोल्होराम ने सोचा, ग़लत-सलत जवाब दे दिया होगा। और फिर पोल्होराम अपने उत्तराधिकारी के अंजाम पर आँसू बहाता हुआ घर लौट आया।

घर पहुँचते ही पोल्होराम ने फिर ऊँचे सुर में गाना शुरू कर दिया। और हर रोज़ यही होता रहा। बच्चे पहले तो डरकर अपनी माओं की गोद में छिप जाते, फिर इस ढंग की पूजा के अभ्यस्त हो गये और दादा के सुर में सुर मिला कर मुहल्ले को सिर पर उठाने लगे। बहुओं को बड़ी कठिनाई होती थी। पहले वे घर में आज़ादी से घूमा करती थीं, लेकिन अब उन्हें एक लम्बा-सा घूँघट निकाले अन्दर-बाहर जाना पड़ता था।

और पोल्होराम जाता भी कहाँ ? घर के सिवा उसका ठिकाना भी तो कहीं नहीं था। शहर में उसके परिचित तो थे, पर ऐसी घनिष्टता तो किसी के साथ भी नहीं थी कि उसके पास सारा दिन ही बिता दे। कभी-कभी वह धिराऊ राम पनवाड़ी की दुकान पर जा बैठता और मुहल्ले की बदचलन औरतों की बातें किया करता और कभी चीनी की दुकान पर चीनी का प्रतिदिन बदलने वाला भाव पूछने चला जाता। पोल्होराम चीनी के भाव में उतार-चढ़ाव से राष्ट्रीय, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का अनुमान कर लेता था। इसके अतिरिक्त उसे और कोई काम न था। उसने चिट्ठियों और मनीआर्डरों के अतिरिक्त और सीखा भी क्या था ? प्रतिदिन के इस शग़ल पर एक-डेढ़ घण्टा ख़र्च होता, और यदि कहीं से उसे अख़बार मिल जाता तो अधिक से अधिक दो-ढाई घण्टे बीत जाते। इसके बाद घर जाने के सिवा दूसरा कोई उपाय ही न था और घर पहुँचते ही वह अपनी पुरानी आदत के अनुसार डाँट-डपट शुरू कर देता—'यह सिलाई की मशीन बेज़रूरत भला यहाँ क्यों पड़ी है ? और यह तेल की कुप्पी ? और अभी तक किसी ने खाना भी नहीं बनाया। भगवान जाने इस घर में चार औरतें करती क्या रहती हैं ? और इन बच्चों का रोना मुझसे तो नहीं देखा जाता।'....सारांश यह कि पोल्होराम इतना चिड़चिड़ा साबित हो रहा था कि बहुएँ तो अलग रहीं, स्वयं सीतो भी उसे महसूस करने लगी थी।

एक दिन पोल्होराम दिन भर लड़ता-झगड़ता रहा। और सब का ख़याल था कि आज गाली-गलौज, मार-पीट होकर रहेगी। लेकिन शाम के क़रीब पोल्होराम का बड़ा लड़का नौबत राय आया तो पोल्होराम ने पूछा—"वह पचीस रुपये का मनी-आर्डर कर दिया तुमने ?"

"कर दिया पिता जी।" नौबत बोला।

"क्या फ़ीस दी ?"

"छै आने।"

"हैं !" पोल्होराम ने एक बार आँखें फैलाते हुए कहा और फिर बेतहाशा हँसने लगा, "अरे नौबत ! कितना भोला है तू ! यह भी नहीं जानता कि पच्चीस रुपये पर चवन्नी कमीशन लगती है। यह तो बाज़ार का एक गँवार भी जाने है। और तू, जो पोल्होराम रिटायर्ड असिस्टेंट पोस्ट-मास्टर का लड़का है, तुझे इतना भी नहीं मालूम कि पच्चीस पर चवन्नी फ़ीस दी जाये....हा हा....वाह रे वाह .. हा हा....।"

और पोल्होराम कभी नाराज़ होता और कभी हँसने लगता। छोटी बहू भी हँसी में शरीक हो गयी। बोली—"मेरा जेठ तो सचमुच भोला महेश है। दुअन्नी मुफ़्त में ज़्यादा दे आया। अब वही भरे दुअन्नी। हाँ बहन ! हम यह दुअन्नी साझे-खाते में न लिखने देंगे.... दुअन्नी का नमक ही आ जाता है। पूरा महीना चल जाता है दुअन्नी का नमक !"

छोटी बहू बड़े घर की बेटी थी न। वही पोल्होराम के साथ हर बात पर सहमत होती थी। दोनों मालदार और उदार-हृदय थे। पोल्होराम ने कहा—"हा हा....पच्चीस पर छै आने फ़ीस दे आया.... ई ही, खी खी !"....और नौबत भी साथ मिलकर एक खिसियानी-सी हँसी हँसने लगा।

पलटते हुए पोल्होराम ने पूछा—"कौन था बाबू ?"

नौबत राय ने बड़े लम्बे-चौड़े ढंग से बाबू की शक्ल बयान की—वह मोटा था।...लेकिन मोटे तो सभी बाबू होते हैं... उसके नथुने फूले हुए थे। पोल्होराम बोला—नथुने तो कई बाबुओं के फूले हुए हैं।....उसकी आँखें अत्यधिक तम्बाकू पीने से बहुत मैली हो चुकी

हैं।—लेकिन आँखें तो दर्जनों बाबुओं की मैली हैं और आजकल तो हर एक बाबू अत्यधिक तम्बाकू पीता है। आखिर लुंगी से समझ में आया कि बाबू रूप किशुन ने ही दुअन्नी अधिक ले ली होगी। रसीद पर भी तो उसी के हस्ताक्षर दिखायी देते हैं। वह है ही पाजी। बड़ा कमीना आदमी है। ऐय्याश है, दुराचारी है। एक बिन-ब्याही स्त्री घर में डाल रखी है। वह ऐसी बातें न करे तो काम कैसे चले। और अन्त में तान यहाँ टूटी—"अरे! तू इतने बड़े पोस्ट मास्टर का लड़का होकर दुअन्नी ज़्यादा दे आया...।"

नौबत और उसकी पत्नी दमयन्ती शर्म से गर्दन झुकाये रसोई में दुबके रहे। नौबत अपने घुटनों में सिर दिये कुछ सोचता रहा। उसका जी चाहता था कि वह रो दे। लेकिन वह अपनी छोटी भावजों के सामने नहीं रोयेगा। जब वह सोने के लिए जायेगा तो अपनी पत्नी की गोद में सिर रखकर खूब रोयेगा और खूब दिल का बुखार निकालेगा। उस समय तो वह चूल्हे के पास बैठा हुआ ईंधन के छोटे-छोटे तिनके उठा-उठा कर चूल्हे में फेंकता रहा।

साँझ के समय दरवाज़ा खटखटाये जाने की आवाज़ आयी। पोल्होराम ने सिर बाहर निकाल कर देखा—उसका उत्तराधिकारी क्लर्क था। पोल्होराम का मन प्रसन्नता से उछलने लगा। वह उसे कुछ कहे बिना ही उलटे पाँव भीतर भाग आया। समोसे लाने और चाय बनाने का आदेश देकर स्वयं बैठक में चला गया और बड़े आदर-सम्मान के साथ उसने उसे अन्दर बैठाया। उस व्यक्ति को किसी केस में पोल्होराम से सलाह लेनी थी। पोल्होराम ने तुरन्त अलमारी से पुरानी वाल्यूम नं० ६ निकाली और उस विशेष विषय पर सारे रूल उसके सामने रख दिये और फिर वायदा किया कि वह सारी रात बैठ-

कर इन नुक्तों के अनुसार ड्राफ़्ट तैयार करेगा। फिर उसने बाबू रूप किशुन की शिकायत की और बाबू विदा हुआ।

अन्दर आते ही पोल्होराम बोला—"वे सब कहते हैं, मेरे बिना दफ़्तर चौपट हो रहा है। यह बाबू भी मेरी तरह ढाई सौ तनख़ाह पाता था—है, और मुझसे सलाह लेने के लिए इतनी दूर से चला आया है। एक दिन कोई आदमी मुलतान से मेरी ख्याति सुनकर आया था। साहब कहता था, मुझे पोल्होराम पर नाज़ है और यह है मेरा बेटा, जिसने मेरे नाम को कलंक लगा दिया।"

और रिटायर होने के इस छै महीने के अर्से में आज शायद पहला दिन था, जबकि पोल्होराम प्रसन्न दिखता था। आख़िर उसका उत्तराधिकारी बाबू इतनी दूर से सलाह लेने के लिए आया था। पोल्होराम दिन भर गाता रहा—

कच्चे तागे से खिंची आयेगी सरकार मेरी

और उसे प्रसन्न देख छोटी बहू ने अपने बच्चे को पिता जी की गोद में ढकेल दिया।

पिता जी बोले—"छोटी बहू कितनी अच्छी है! देखो, इसे सारे घर के लिए दुअन्नी के नमक का ध्यान आया। और तू कुन्तो, तू बड़ी ख़राब है। तुझे अपनी बेटी के सिवा और कुछ सूझता ही नहीं। और शानो...शानो है भी तो बहुत प्यारी! बस इसे देखता जाये आदमी!.... देखो, कैसे आँख मूँद लेती है....हात...छी...और मैं इसे ला दूँगा एक मुलायम सी गुड़िया, और सीतो! कल मैंने सेफ़ में दो धेले भी रक्खे थे। लाना ज़रा वह... एक मुन्ने को दूँगा और एक मुन्नी को!"

और छोटी बहू खुश होकर बोली, "पिता जी! आपने मुझसे रसगुल्लों का वायदा किया है।"

पोल्होराम बोले, "मैं जानता हूँ, तू बहुत शौक़ीन है रसगुल्लों

की। मैं एक... दो...तीन रुपये के रसगुल्ले लाऊँगा और बड़ी बहू के लिए माला लाऊँगा। और मँझली कोई दूसरी है, वह भी तो अपनी ही बेटी है न। ऐसे ही, जैसे दमयन्ती मेरी बेटी है।"

दमयन्ती, बड़ी बहू अपने पति की दुअन्नी को भी भूल गयी और मन में सोचने लगी—पिता जी भी ऐसे बुरे क्या हैं। मारते हैं तो प्यार भी तो करते हैं—और नौबत राय अपनी पत्नी के इस भाव-परिवर्तन पर मन-ही-मन में उसे कोसने लगा। पोल्होराम ने सबसे रसगुल्लों का वायदा कर लिया। और छोटी बहू सब कुछ समझती थी और मन में कहती थी—बस रसगुल्ले आ ही तो जायेंगे। कंगन भी आ गये, प्रयाग भी हो आये—नौबत की माँ सहित...और सिर्फ़ रसगुल्लों की कसर है....

पोल्होराम ने सारी रात जागकर ड्राफ़्ट तैयार किया और सुबह जब उसने दफ़्तर में बड़े गर्व से प्रवेश किया तो उसकी जगह काम करने वाले बाबू के अतिरिक्त और किसी ने उसकी परवाह नहीं की। साहब भी तीनों बार उसके सलाम का उत्तर दिये बिना गुज़र गया। फग्गू भंगी ने भी उसे ध्यान देने योग्य न समझा। पोल्होराम ने बाबू रूप किशुन से दुअन्नी माँगी, पर वह साफ़ इनकार कर गया।

पोल्होराम ने सोचा, शायद नौबत ने वह दुअन्नी दमयन्ती को कुछ ला देने के लिए उड़ा ली होगी। ज़रूरत थी तो गधा साफ़ माँग लेता। यह उचक लेने वाली बात उसकी समझ में नहीं आयी। खैर, घर चल कर उससे पूछा जायेगा।... घर पहुँचा तो नौबत मौजूद न था। पोल्होराम ऊँचे स्वर में ब्रह्मानन्द के भजन गाने के बाद घर की स्त्रियों पर बरसने लगा और उन सबका जीना दूभर हो गया। स्वयं भी तो पोल्होराम इस ज़िन्दगी से तंग आ चुका था।

दीवाला

पहली की सुबह को जब वह पेन्शन लेने गया तो हमेशा की तरह नोटिस बोर्ड पढ़ने लगा।...डाक विभाग को नगर के एक घने इलाक़े में एक एक्स्ट्रा डिपार्टमेन्टल डाकखाने की ज़रूरत थी और उसके लिए किराया मकान और स्टेशनरी सहित पच्चीस रुपये मासिक पर काम करने वाले की मांग थी।

उस समय उसे अपनी जगह काम करने वाले बाबू की मदद काम आयी और पोल्होराम ने वह पच्चीस रुपये की नौकरी कर ली। अब वह सुबह आठ ही बजे निकल जाता और रात को देर से घर आता। कार्याधिक्य से उसका दमा, जो साधारण ही था, भयानक रूप धारण कर गया। प्रायः मनीआर्डर बुक करते हुए उसे दौरा पड़ता तो पैसे, बीमे, रसीदें सब मेज़ पर बिखर जातीं। उसका मुँह लाल हो जाता, आँखें पथरा जातीं और मुँह में से बलग़म के छींटे उड़कर खिड़की में से प्रवेश करने वाली किरणों में एक डरावने इन्द्र-धनुष का रंग भरते, मुँह, नाक और आँखों से पानी बहने लगता और उसी अवस्था में पोल्होराम खिड़की के पास फ़र्श पर लोटने लगता। लोग काउण्टर पर बिखरे पैसों को उसके लिए समेटते और बड़ी दया भरी दृष्टि से उस बूढ़े की ओर देखते और कहते—डाकखाना क्यों नहीं इस ग़रीब बूढ़े को पेन्शन दे देता?

घर में : बाज़ार में

दीवार पर लटकते हुए शेकोशा ने सुबह के आठ बजा दिये। दर्शी ने आँख खोली और एक प्रश्न-सूचक दृष्टि से नये आबनूसी क्लॉक की ओर देखा, जिसके आठ सुरीले टनाके उसके दिमाग़ में गूँज पैदा करते हुए प्रतिक्षण मद्धिम हो रहे थे....एक घटिया सा क़ालीन था और यही एक क्लॉक जो दर्शी के गुरु ने उसे विवाह के अवसर पर उपहार के रूप में दिया था। शायद वह चाहता था कि उसकी शिष्या एक अच्छी बेटी होने के साथ-साथ एक अच्छी गृहिणी भी सिद्ध हो.... और प्रतिदिन सवेरे शेकोशा अपने पुराने व्यंग्यमय अन्दाज़ में मुस्कराता हुआ कह देता :

"मैं सब कुछ जानता हूँ। लेकिन अब तो आठ बज गये हैं सुस्त लड़की !"

दर्शी का पूरा नाम प्रियदर्शिनी था और शायद इसीलिए दर्शी को रात भर जागना पड़ता था और शेकोशा से नज़रें चुराना होतीं।.... दर्शी बचपन से कमज़ोर नसों की और ज़रूरत से ज़्यादा भावुक थी

और अब शादी के बाद वैवाहिक असंयम के कारण उसकी नसें और भी कमज़ोर हो गयी थीं।

ससुराल में कुछ दिनों के बाद जो सबसे बड़ी कठिनाई दर्शी के सामने आयी, वह थी अपने पति रतन लाल से पैसे माँगना। इससे पहले वह अपने पिता से निस्संकोच पैसे माँग लिया करती थी और यदि कभी वह अपने ज़मींदारी के काम में चूक भी जाते तो दर्शी, उनकी लाडली बेटी, उनके कोट की जेब में से आवश्यकतानुसार पैसे निकाल लिया करती। पापा का कोट हमेशा अन्दर कमरे में किसी पेटीकोट के ऊपर टँगा हुआ मिल जाता था। अपने मायके से जितने पैसे वह साथ लायी थी, वे सब शगुन के पैसों सहित एक सुन्दर सुनहरी हथ-घड़ी पर खत्म हो चुके थे। खर्च की यह मद वह रतन से छिपाना नहीं चाहती थी, हाँ रतन से आवश्यकतानुसार पैसे माँगते हुए भी वह शरमाती थी। जब उनकी आत्माओं का मिलाप होगा, तब वह पैसे माँग लेगी। वर्त्तमान स्थिति में वह पैसे माँग कर बिकना नहीं चाहती थी।

कई बार बाज़ार में कोई चीज़ खरीदी जाती तो दर्शी अपनी पतली-पतली सुकोमल काँपती-सी उँगलियाँ अपने साबर के सुन्दर लेकिन खाली बटुए में डाल देती और कहती, "छोड़िए, रहने दीजिए....पैसे मैं दूँगी।"

रतन लाल उसी समय दर्शी का हाथ थाम लेता और सेल्समैन से नज़रें चुराता हुआ बड़े प्रेम से दर्शी की ओर देखता और कहता—"एक ही बात तो है दर्शी।"

उस समय दर्शी प्रेम की एक मधुर-सी टीस महसूस करते हुए चुप हो जाती। उसे विश्वास था कि रतन कभी भी उसे पैसे नहीं देने

देगा। क्या वह उसकी पत्नी नहीं है ? आख़िर क्या उसका यह कर्तव्य नहीं है कि वह उसके सारे छोटे-मोटे खर्चे पूरे करे ?

उन दिनों वर्षा का आरम्भ था और रतन का बरसाती कोट बहुत पुराना हो चुका था। बरखा की बूँदें उसमें किसी-न-किसी तरह घुस ही आती थीं। उसे ख़रीदने के लिए दर्शी और रतन बाज़ार गये। स्वास्तिक स्टोर में उन्हें एक अच्छा-सा कोट मिल गया। दाम तय होने से पहले दर्शी ने हमेशा की तरह बेग के बटन खोल दिये और बोली, "पैसे मैं देती हूँ, रहने दीजिए।"

रतन लाल ने अपने हाथों में दस का नोट मसलते हुए कहा, "अच्छा, तो तुम्हारे पास रेज़गारी होगी ?"

दर्शी घबरा गयी। उसकी टाँगें काँपने लगीं। उसने योंही कुछ देर के लिए बेग को टटोला और ज़बरदस्ती मुस्कराते हुए बोली—"हाय....रेज़गारी तो मेरे पास भी नहीं है।"

रतन लाल ने इस बीच उँगली के गिर्द नोट के बहुत से चक्कर दे डाले और कमज़ोर नसों वाली दर्शी मौन रहने की जगह कहने लगी, "रेज़गारी तो घर ही रह गयी....मेरे पास तो पाँच-पाँच के नोट होंगे।"

दर्शी ने शायद यही समझा कि रतन लाल फिर एक बार मीठी निगाह से उसकी ओर देख लेगा और फिर पैसे चुकाने का सवाल ही न रहेगा। लेकिन वह यह भूल ही गयी कि शादी को एक महीने से कुछ ज़्यादा वक़्त हो चुका है और अब औपचारिकता की कोई वैसी आवश्यकता नहीं रही। रतन ने कोट को उतारते हुए कहा, "तो अच्छा, पाँच-पाँच के दो नोट ही दे दो, यह लो रख लो दस का नोट !"

उस समय दर्शी के कान गर्म हो गये। जिस्म पर चींटियाँ रेंगने

लगीं। उसने अकारण बरसाती को इधर-उधर उलटना शुरू कर दिया। बरसाती के एक किनारे पर छेद था। उस छेद में उसे मुक्ति का मार्ग सुझायी दिया और उसकी ओर संकेत करते हुए उसने कुछ बिगड़ कर कहा, "यह तो फटी हुई है....कौड़ी काम की नहीं यह !"

और फिर दुकानदार को सम्बोधित करते हुए उसी तेज़ स्वर में बोली, "भला आपने हमें क्या समझ रक्खा है जी, जो फटावा कोट हमें मढ़ रहे हैं ?"

सेल्समैन एक दम घबरा गया और तुरन्त नये कोट लेने के लिए दुकान के ऊपर चला गया। दर्शी के गुस्से के कारण रतन भी सहम गया और एक बनावटी क्रोध से दुकानदार की ओर देखने लगा। उसी समय दर्शी ने रतन का बाज़ू पकड़ा और बाहर ले आयी। सामने सीढ़ी पर सेल्समैन बरसातियों के बोझ से लदा हुआ स्टाक-रूम से नीचे उतर रहा था। पर उसके आश्चर्य की सीमा न रही, जब उसने देखा कि वह सुन्दर जोड़ी दृष्टि से ओझल हो चुकी थी।

रतन ने देखा, दर्शी के मुँह पर कालिमा छा गयी थी और माथे पर के बड़े से किरमज़ी धब्बे में पसीने की बूँदें बेतहाशा उमड़ आयी थीं। बाज़ार से लेकर घर तक उसकी पत्नी हकला-हकला कर बातें करती रही, और रतन उसकी एक बात का भी मतलब न समझा। और जब उसने ताँगे पर से हाथ देकर दर्शी को उतारा तो उसे मालूम हुआ कि दर्शी के हाथ-पाँव ठण्डे हो रहे हैं।....और क्योंकि वह नारी की सीधी-सादी शृंखला की एक कड़ी खो बैठा, उसने पुरुष की पुरानी आदत के अनुसार कहना शुरू किया—'नारी एक पहेली है। शोपेन-हार कहता था....'

अगले दिन दर्शी सोकर उठी तो आठ की जगह आठ पैंतीस हो चुके थे और सूरज उनकी खिड़की पर आ गया था । उसकी किरणें क्लॉक के शीशे में से प्रतिबिम्बित होती हुई दर्शी के चेहरे पर पड़ने लगी थीं । क्लॉक के बड़े-बड़े रोमन अंकों में खाली सफ़ेद स्थान बड़े-बड़े दाँत बन गये थे । यों लगता था जैसे शेकोशा व्यंग्य की सीमा लाँघ चुका है और खिलखिलाकर हँस रहा है ।

....और शेकोशा अकेला ही नहीं था । उसके साथ कक्कू की माँ भी तो मिल गयी थी । कक्कू की माँ रतन के यहाँ नौकरानी थी । वह एक विधवा थी । सुबह जब वह चाय लेकर आयी तो रानी जी को ऐसी थकी-थकी देखकर 'खी-खी....खी-खी' करके हँसने लगी । जैसे कह रही हो—हम भी बहुत दिन गये जागा करते थे । हमारी आँखों में भी खुमार होता था । और अब तो रातों को जगाने वाले भगवान के द्वारे ही चले गये । आह ! मुझे वह दिन याद है जब वह मेरे लहँगे के लिए बहुत सुन्दर गोटा और किंगरी लाये थे....उस दिन तो वह पहले अन्दर ही नहीं आये, द्वार पर ही खड़े मुस्कराते रहे । और जब वे अन्दर आये तो उनका बात करने का ढंग भी अजीब था । और वह गोटा देखकर मेरी सब थकान उतर गयी थी ।

दर्शी ने चिल्लाते हुए कहा, "कक्कू की माँ !"

कक्कू की माँ के होंठों पर मुस्कान नहीं रही, केवल उसकी छाया रह गयी । हल्के-से सुर्ख़ से उसका रंग सफ़ेद और सफ़ेद से पीला और फिर काला-सा हो गया और वह आश्चर्य से क्लॉक की टिक-टिक को सुनने लगी । दर्शी के लिए वह मामूली टिक-टिक हथौड़े की चोटों से कम न थी । उसे अपने गुरु की इज्ज़त का ध्यान न होता तो वह पत्थर मार कर उसकी टिक-टिक को रोक देती ।....कक्कू की माँ सोच रही थी कि आखिर मालिकिन क्यों खफ़ा हो रही है । यद्यपि रतन बाबू ने उसे

एक नयी साड़ी लाकर दी है, जिस पर पूरा एक हाथ चौड़ा सुनहरा बार्डर लगा है और उसके अनुमान के अनुसार उसकी सारी थकावट दूर कर देने के लिए काफ़ी है।

दर्शी ने कहा—"आज फिर तूने चमचा भर चाय में दूध की गागर उँडेल दी।"

कक्कू की माँ ने सहमे हुए कहा, "रतन बाबू ने कहा था रानी।"

"क्या कहा था उन्होंने?"

"कहाँ था....रानी बीमार है।"

कक्को की माँ ने ट्रे उठायी और आँखों से एक हाथ चौड़े सुनहरे बार्डर को देखती और मन में भगवान को कोसती हुई चली गयी। दर्शी सोचने लगी, क्या रतन को उसकी दुर्बलता का पता चल गया है? इसीलिए तो वह इस क़िस्म की चाय को मेरे लिए हानिकर समझने लगा है। और क्या मालूम जो उसने सोते में मेरे बेग की तलाशी भी ली हो। उसने ज़न्नाटे से एक हाथ सिरहाने के नीचे मारा। बेग मौजूद था और था भी ज्यों-का-त्यों बन्द।....बेग के एक कोने में झूमरों की एक जोड़ी पड़ी थी। दर्शी झूमरों की बड़ी शौक़ीन थी। पर उसके विवाह में जितने भी गहने दिये गये थे, वे सब-के-सब भारी थे और देहाती ढंग के बने हुए थे। अकेले झूमर ही डेढ़ तोले के थे, दर्शी जानती थी कि रतन उसे इन लम्बे झूमरों को पहने हुए देखकर बहुत प्रसन्न होता है। वह स्वयं भी रतन को प्रसन्न रखना चाहती थी। लेकिन इस बात का क्या इलाज कि भारी झूमर पहनने से उसे अपने कान टूटते हुए महसूस होते थे और वह उन्हें आध घण्टे से ज़्यादा नहीं पहन सकती थी।

दर्शी की इच्छा थी कि वह हल्के से झूमर ख़रीद ले। यही कोई सस्ती सी जोड़ी। पर उनके लिए वह रतन से पैसे न माँगेगी, जब तक

कि वह स्वयं अपने कर्त्तव्य को महसूस करता हुआ पैसे उसके हाथ में न दे दे।

सहसा उसका ध्यान पापा की ओर चला गया। उनसे तो वह लड़कर भी पैसे माँग लेती थी। एक विचार के अधीन दर्शी उठी और अपने ही कमरे में जब उसने अलमारी खोली तो उसकी जार्जेट की साड़ी के ऊपर रतन का कोट टँगा हुआ था।....दर्शी के मुँह पर एक सुर्खी की लहर दौड़ गयी। उसने सोचा सारे पुरुष एक ही-से बेपरवाह होते हैं। यही पुरुषों की विशेषता है। और फिर पेटीकोट या जार्जेट की साड़ी के ऊपर अपना कोट शायद जान-बूझकर भूल जाने का क्या यह मतलब नहीं कि इस कोट के साथ जैसा व्यवहार उचित समझा जाये, किया जाय। जैसे कोट मूक भाषा में कह रहा हो—'मैंने तुझे मसल डाला है। इसके बदले तू मेरी जेबें काट डाल।' दर्शी ने दरवाज़े पर दृष्टि गाड़े जेब में हाथ डाला तो उसके हाथ में दस-दस के चार नोट और कुछ रेज़गारी आ गयी। उसने सोचा यदि इसमें से वह आवश्यकतानुसार कुछ उड़ा ले, तो रतन क्या कहेगा.... लेकिन....चोरी तो एक नीच कर्म है....अभी तो आत्माओं का मिलाप नहीं हुआ।....वह इस तरह जेब से पैसे उड़ाकर वेश्या न कहलायेगी।

*

दो-तीन दिन पहले दर्शी के पास हरिपालपुर, अपनी ज़मींदारी से तार द्वारा सौ रुपये आ चुके थे। शगुन के और रुपये इकट्ठे हो गये। उन्होंने कई दिनों तक दर्शी की स्नायविक दुर्बलता को आराम पहुँचाया। कक्कू की माँ भी प्रसन्न थी और भगवान को कम याद करती थी। दर्शी ने कई बार रतन से कहा कि बाज़ार जाकर बरसाती

कोट ख़रीद लेना चाहिए। बरसात के बाद उसका क्या उपयोग होगा। लेकिन चन्द दिनों से रतन लाल अपने दफ़्तर में असेम्बली के लिए आँकड़े तैयार कर रहा था और उसके कारण उसे बरखा, धूप, साड़ी—किसी चीज़ की परवाह नहीं थी और इस बात ने दर्शी को बहुत उदास कर दिया था।

एक शाम रतन घर लौटा तो दर्शी के विस्मय की सीमा न रही। उसके हाथ में झूमरों की एक जोड़ी थी। जो थी भी बहुत हल्की और नये फ़ैशन की। दर्शी प्रसन्न न हुई, क्योंकि वह झूमर उसने स्वयं नहीं ख़रीदे थे। रतन ने उन्हें अपनी ख़ातिर ख़रीदा था। वह स्वयं भी तो उसे झूमर पहने हुए देखकर प्रसन्न होता था। सच तो यह है कि पुरुष कभी भी स्त्री की फ़रमायश पर गहने ख़रीदना पसन्द नहीं करते बल्कि उनको अपने लिए सजाने को ख़रीदते हैं। दर्शी को संतोष हुआ भी तो केवल इसलिए कि रतन उन्हें अपने-आप ख़रीद लाया और ऐसा करने में उसने अपनी कर्त्तव्य-परायणता का सबूत दिया।

झूमरों की जोड़ी को हाथ में लेते हुए वह व्यंग्य भरे स्वर में बोली—"ख़त्म हो गये आपके आँकड़े?"

"ख़त्म हो गये।"

रतन ने दर्शी का हाथ पकड़ा तो उसने झटके से छुड़ा लिया। बोली—"अब मेरे आँकड़े शुरू हैं। सर्दियाँ आनेवाली हैं। कम से कम तीन भतीजों के स्वेटर बुनने हैं।"

रतन ने फिर हाथ पकड़ते हुए कहा, "तो क्या तुम्हें झूमर पसन्द नहीं?"

"झूमर? ओह! हाँ।" दर्शी मुँह फुलाते हुए बोली—"आपने बहुत कष्ट किया।"

शेकोशा पूर्ववत मुस्करा रहा था। वह केवल एक क्लॉक ही नहीं

था—चौबीस घण्टे लगातार टिक-टिक करने वाला—वह दर्शी का गुरु भी था, जिसके डायल और सुइयों ने दर्शी को एक अच्छी कुमारी-कन्या के रूप में देखा था, और अब शायद एक अच्छी पत्नी के रूप में देखना चाहता था।

रतन पहली कड़ी खो देने से गंतव्य-स्थान पर न पहुँच सका। वह दर्शी की बातों में व्यंग्य न पा सका तो वह बोली, "आप तो योंही मेरे लिए पैसे बर्बाद करते हैं....भला और भी कोई ऐसे करता है?"

रतन फटी-फटी आँखों से दर्शी के सुन्दर मुखड़े की ओर देखने लगा। अगर दर्शी उसी समय वह झूमर अपने कानों में न डाल लेती तो संसार का इतिहास किसी और ही ढब से लिखा जाता। उसने न केवल झूमर पहने, बल्कि अपनी गर्दन को बड़ी अदा से इधर-उधर हिला दिया। और रतन एक ईमानदार आदमी की तरह उसकी गर्दन और उसके हिलते हुए झूमरों के बारे में सोचने लगा।

ऐसा लगता था जैसे दर्शी को अभी संतोष नहीं हुआ। वह बोली, "क्या लागत आयी है इस पर?"

"कोई बहुत नहीं।"

"तब भी?"

"साढ़े इकतीस रुपये।"

दर्शी ने अपने साबर के बेग को टटोलना शुरू किया। रतन एक क्षण के लिए ठिठक गया। वह शायद इस बात को मज़ाक़ समझकर जाने देता, लेकिन दर्शी के चेहरे ने उसे मज़ाक़ की सीमा से ऊपर उठा दिया था....कुछ देर बाद रतन ने अँधेरे में अपने पाँव के नीचे धरती को पा लिया। जैसे खोयी हुई कड़ी उसके हाथ आ गयी हो। उसने अपनी जेब में से सारी नक़दी निकाली और अँधेरे में दर्शी के

चरणों पर रखते हुए बोला, "तुम उस दिन अपनी किसी ज़रूरत की बात कर रही थीं।....लो, यह अपनी इच्छा से ख़र्च कर लेना।"

दर्शी ने एक क्षण के लिए सोचा—'रतन ने ऐसा करके स्त्री को सब से बड़ी गाली दी है—वेश्या!'

विवाह को एक-दो वर्ष बीत गये, लेकिन दोनों की आत्माएँ एक नहीं हुईं। बल्कि रतन अब कुछ खिंचा-खिंचा सा रहने लगा। इस बीच दर्शी पत्नी की सारी कलाओं से परिचित हो चुकी थी। वह वैसी ही भाव-प्रवण थी। आज तक उसने खुलकर रतन से पैसे नहीं माँगे थे। वह कभी-कभी अपनी दुर्बलता पर अपने आपको कोसा करती। प्रायः ऐसा होता कि बच्चे के फ्राक या उसे कैलशियम देने की बात होती तो उसे ऊपर से पैसे मिल जाते और फिर रतन उसकी ज़रूरत अथवा अपने शौक़ के अनुसार स्वयं भी उसे कुछ-न-कुछ ला दिया करता। हरिपालपुर में आना-जाना बना ही हुआ था। यद्यपि दर्शी की माँ सौतेली थी, पिता तो सौतेला नहीं था। बड़ा भाई एक्ज़ीक्युटिव इंजीनियर हो चुका था। और फिर दफ़्तर और आँकड़ों के बाद रतन का कोट उसके पेटीकोट पर टँगा होता....

इस एक-दो वर्ष के अर्से में शेकोशा का चेहरा कुछ पीला हो गया था। उसकी निगाहों में वह पहली सी शरारत और व्यंग्य भरी मुस्कान न रही थी। कभी-कभी उसका कोई पुर्ज़ा ख़राब हो जाता तो उसकी मरम्मत कर दी जाती।

एक दिन रतन लाल रात को किसी दोस्त के यहाँ ठहर गया। सुबह लौटा तो दर्शी से कहने लगा—"आज सुबह मैंने एक घटना देखी।"

दर्शी ने बच्चे को उसकी गोद में देते हुए कहा, "क्या देखा आपने ?"

रतन बोला, "मैं कहता हूँ....ये बाज़ारी औरतें भी कितनी निर्लज्ज होती हैं। आज मैंने एक ऐसी ही औरत को देखा, जिसके बाल उलझे हुए थे, आँखों में खुमार भरा था, शरीर से बीमार दिखती थी। सुबह-सुबह भरे बाज़ार में उसने एक बाबू को कॉलर से पकड़ा हुआ था और पैसे माँग रही थी। वह बाबू बेचारा कोई बहुत ही भला आदमी था। वह चीखता था, चिल्लाता था। कहता था, मैंने इसे एक सुन्दर साड़ी लाकर दी है, गुर्गाबी खरीद दी है, और अब यह पैसे माँगती है....

"वह निर्लज्ज भरे बाज़ार में कह रही थी कि वह तो सब सुन्दरता का चढ़ावा है। इसने अपने लिए मुझे वह साड़ी पहनवाई थी। अपने लिए गुर्गाबी लाया था, जिसे पहनकर मैं इसके साथ लारेन्स बाग़ की सैर को गयी। लेकिन मुझे पैसे चाहिएँ—मुझे भूख लग रही है, मुझे अपने बच्चे के लिए कपड़े दरकार हैं; मुझे किराया देना है; मुझे पाउडर की ज़रूरत है....।"

और इसके बाद रतन हँसने लगा। बेमौनी, बेमतलब हँसी। और इस बीच में लगातार अपना सिलवटों से भरा हुआ कालर छिपाता रहा। इस बात को सुनकर दर्शी की सारी स्वाभाविक दुर्बलता लौट आयी। दर्शी ने महसूस किया, उसमें जितनी कमज़ोरियाँ थीं, वह उस वेश्या में नहीं थीं। वह उसके शरीर का शेष भाग थी जिसे अपने-आप में महसूस करते हुए वह एक सम्पूर्ण नारी हो गयी थी। दर्शी ने सिर से पाँव तक शोला बनते हुए कहा, "वह बाबू पाजी आदमी है.... कमीना है....और वह वेश्या किसी गृहिणी से क्या बुरी है ?"

रतन लाल का मुँह खुले-का-खुला रह गया। संदिग्ध दृष्टि से

उसने दर्शी के चेहरे का निरीक्षण करते हुए कहा, "तो तुम्हारा मतलब है....उस जगह और इस जगह में कोई अंतर नहीं ?"

दर्शी ने उसी तरह बिफरते हुए कहा, "अन्तर क्यों नहीं....यहाँ बाज़ार की अपेक्षा शोर कम होता है।"

—क्लॉक की टिक-टिक बन्द हो गयी। रतन लाल सोचने लगा—'नारी सचमुच एक पहेली है। और शोपेनहार ने....।'

कोख जली

घमण्डी ने ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया।

घमण्डी की माँ उस समय केवल अपने बेटे की प्रतीक्षा में बैठी थी। वह यह बात अच्छी तरह जानती थी कि पहले पहर की नींद उचट जाने से अब उसे सर्दियों की पहाड़-ऐसी रात जाग कर काटनी पड़ेगी। छत के बाँस और अनगिनत सरकण्डे गिनने के अतिरिक्त टिड्डियों की उदास और परेशान करने वाली आवाज़ों को सुनना होगा।.... दरवाज़े पर ज़ोर-ज़ोर की दस्तक होने पर भी वह कुछ देर खाट पर बैठी रही। इसलिए नहीं कि वह सर्दी में घमण्डी को बाहर खड़ा करके उसके घर में देर से आने की आदत का विरोध करना चाहती है....बल्कि इसलिए कि घमण्डी अब आ ही तो गया है।

यों भी बूढ़ी होने के कारण उस पर एक अजीब तरह का सुखद आलस्य, एक मीठी-सी बेहिसी छायी रहती थी। वह सोने और जागने के बीच लटकती रहती।....कुछ देर बाद माँ खामोशी से उठी। चारपायी पर फिर से औंधी लेटकर उसने अपने पाँव चारपायी के दूसरी तरफ़ लटकाये और घिसटकर खड़ी हो गयी। डीवट के पास पहुँचकर उसने बत्ती

को ऊँचा किया। फिर लौटकर खाट के 'साँघे' में छिपायी हुई निसवार की डिबिया निकाली और इतमीनान से दो चुटकियाँ अपने नासापुटों में रखकर दो गहरी साँसें लीं और दरवाज़े की ओर बढ़ने लगी। लेकिन तीसरी दस्तक पर यों लगा, जैसे किवाड़ ज़मीन पर आ रहेंगे।

"अरे थम जा उजड़ गये!" माँ ने बिगड़कर कहा, "मुझे राह दिखाता है और आप एक पल भी तो नहीं ठहर सकता।"

किवाड़ के बाहर घमण्डी के कानों पर लिपटे हुए मफ़लर को भेदते हुए माँ के ये शब्द उसके कानों में पहुँचे—'उजड़ गये....।' माँ की यह गाली घमण्डी को बड़ी प्यारी लगती थी। माँ अपने बेटे के ब्याह की चर्चा करती और बेटा दिखावटी उपेक्षा प्रकट करता, तब भी वह यही गाली देती। एक ही पल में घर को बसाने और उजाड़ देने में माँ बड़ी दक्ष थी।

ऐसी उतावली दिखाने का घमण्डी को स्वयं भी दुख हुआ। उसने मफ़लर से अपने कान अच्छी तरह ढाँप लिए और चुराये हुए मेक्रोपोलो का टुकड़ा जेब से निकाल, उसे सुलगाकर खड़ा हो गया। शायद आग के निकट होने का अहसास उसे बेपनाह सर्दी से बचा ले। फिर ,ह मेक्रोपोलो को हवा में घुमाकर कुंडल बनाने लगा। यह घमण्डी का प्रिय शग़ल था, जिससे 'अवगुण' बताकर माँ उसे मना किया करती थी। लेकिन उस समय कुण्डल बनाकर न केवल वह किंचित संतोष पाना चाहता था, बल्कि अजाने रूप में माँ के उन प्यारे शब्दों के विरुद्ध एक छोटा सा विद्रोह भी करना चाहता था।

सिगरेट का आवारा जुगनू हवा में घूमता रहा। घमण्डी अब एक और दस्तक देना चाहता था। लेकिन उसे स्वयं ही अपनी इस मूर्खता पर हँसी आ गयी। 'वे लोग भी कितने अहमक़ होते हैं'-उसने मन-ही-

मन कहा, 'जो हर उचित-अनुचित स्थान पर अपना समय बर्बाद करते रहते हैं, लेकिन जब उन्हें किसी जगह पहुँचना होता है तो समय की सारी कसर साइकिल के तेज़ चलाने या भाग-भागकर जान हलकान करने में पूरी करते हैं'....और वह सिगरेट का एक कश लगाकर दरवाज़े की एक ओर नाली के पास दुबक गया।

धोबियों की कटड़ी में उगा हुआ गोंदनी का पेड़ पछुआ के सामने झुक गया था। झुकाव की तरफ टहनियों में चाँद की हल्की-सी फाँक उलझी हुई दिखायी दे रही थी। माँ ने ज़रूर आज गले में दुपट्टा डाल कर दुपट्टे के फुएँ दूज के चाँद की ओर फेंके होंगे।....उसके बाद सहसा सायँ-सायँ की भयानक आवाज़ बुलन्द हुई। हवा, चाँद की फाँक और गोंदनी का पेड़ मिल-जुल कर उसे डराने वाले ही थे कि माँ ने दरवाज़ा खोल दिया....

"माँ....ही ही....।" घमण्डी ने कहा और स्वयं दरवाज़े से एक क़दम पीछे हट गया। उससे एक क्षण पहले वह अपने दाँतों को भींच रहा था।

"आ जाओ।" माँ ने कुछ रुखाई से कहा—"आ जाओ....अब डरते क्यों हो? तुम्हारा ख़याल था, मुझे पता नहीं चलेगा?"

घमण्डी को एक मामूली-सा ख़याल आया कि माँ के मुँह में एक भी दाँत नहीं है। लेकिन उसने अपने आपको सम्हालते हुए कहा—"किस बात का पता नहीं चलेगा?"

"हूँ।" माँ ने दिये के क्षीण प्रकाश में सिर हिलाते और बेटे का मुँह चिढ़ाते हुए कहा—"किस का पता नहीं चलेगा!"

घमण्डी को पता चल गया कि माँ से किसी बात का छिपाना व्यर्थ है। माँ, जो चौबीस साल एक शराबी की पत्नी रही है। घमण्डी का बाप जब भी दरवाज़े पर दस्तक दिया करता, माँ तुरन्त जान लेती कि

आज उसके पति ने पी रखी है। बल्कि दस्तक से उसे पीने की मात्रा का भी अनुमान हो जाता था। फिर घमण्डी का पिता भी इसी तरह दुबके हुए प्रवेश करता—इसी तरह पछुआ के शोर को शरमाते हुए....और यही प्रयास करता कि चुपके से सो जाये और उसकी पत्नी को पता न चले। लेकिन....लेकिन....शराब के बारे में घमण्डी के माता-पिता में एक अनलिखा और अनकहा समझौता था। दोनों एक दूसरे को आँखों-ही-आँखों में समझ जाते थे। पीने के बाद घमण्डी का बाप एक भी अतिरिक्त शब्द मुँह से न निकालता, और उसकी माँ अपने पति को पीने के बारे में कुछ भी न कहती। वह चुपके से खाना निकालकर उसके सिरहाने रख देती और सोने से पहले विशेष रूप से पानी का एक बड़ा कटोरा चारपायी के नीचे रख कर ढाँप देती।....सुबह होते ही अपने पल्लू से एकाध सिक्का खोल कर घमण्डी की तरफ़ फेंक देती और कहती—"ले अधबिलोया ले आ....।"

और घमण्डी अपने पिता के लिए शकर डलवाकर अधबिलोया दही ले आता, जिसे पीकर वह प्रसन्न होता, रोता, पश्चात्ताप करता और फिर 'हाथ से जन्नत न गयी' को झुठलाता....

घमण्डी ने माँ के मुँह से यह बात सुनी और खिसियानी-सी हँसी हँसकर बोला—"माँ! तू कितनी अच्छी है।" फिर घमण्डी को एक चक्कर आया। शराब पछुआ के झोंकों से और भी तेज़ हो गयी थी। सिगरेट का जुगनू, जो अपना फ़ासफ़ोरस खो चुका था, दूर फेंक दिया गया और माँ का आँचल पकड़ते हुए घमण्डी बोला—"और लोगों की माँ उनकी बीवी होती है। लेकिन तू मेरी माँ ही माँ है....।"

और दोनों मिलकर इस मूर्खतापूर्ण वाक्य पर हँसने लगे। वास्तव में उस छोकरे के दिमाग़ में पत्नी का नक़्शा भिन्न था। घमण्डी

समझता था, पत्नी वह स्त्री होती है जो शराब पीकर आये हुए पति का जूतों से सत्कार करती है। कम-से-कम रोलिंग मिल्स के मिस्त्री की पत्नी, जिसका घमण्डी शिष्य था, अपने शराबी पति से ऐसा ही व्यवहार किया करती थी। और इस तरह के जूते-लात के क़िस्से आये दिन सुनने में आते हैं। फिर कोई माँ भी अपने बेटे को इस तरह की हरकत करते देखकर उससे अच्छा व्यवहार न करती। इसके विपरीत घमण्डी की माँ—माँ थी—एक विशाल और उदार हृदय, जिसके विस्तार में सब पाप छिप जाते थे....और यदि घमण्डी के इस प्रकट मूर्खतापूर्ण वाक्य के अन्तर्निहित सत्य को मान लिया जाय तो उसके विकृत रूप में घमण्डी की माँ अपने पति की भी माँ थी।

बिस्तर पर धम्म से बैठते हुए घमण्डी ने अपने रबड़ के जूते उतारे। ये जूते सर्दियों में बर्फ़ और गर्मियों में अंगारा हो जाते थे। लेकिन उन जूतों को पहने हुए देखकर कौन कह सकता था कि घमण्डी नंगे पाँव घूम रहा है।....घमण्डी ने हमेशा की तरह जूते उतारकर गर्म करने के लिये चूल्हे पर रख दिये। माँ फिर चिल्लायी—"हय मरे तेरी माँ भगवान करे....से....हय मसान भोग ले तो को।" लेकिन हिन्दू-धर्म निरन्तर भ्रष्ट होता रहता। तब माँ जूते उतारकर दूर कोने में फेंक देती। फिर बकती-झकती अपने आँचल में एक चवन्नी बाँधकर घमण्डी के सिरहाने पानी का एक बड़ा सा कटोरा रख, बास मारे बिस्तर की आँतों में जा दुबकती।

'हद हो गयी,' माँ ने दो-तीन बार सोचा, 'घमण्डी ने बनवारी और रशीद की संगत छोड़ दी है। उसने घमण्डी को शराब पीने से भी मना नहीं किया और न अपने आवारा संगियों के साथ घूमने से।' माँ ने सोचा, शायद यह नर्मी के बरताव का असर है। लेकिन वह

डर गयी। और जल्दी-जल्दी निसवार की चुटकियाँ अपने नथुनों में रखने लगी। अपने-आपको मारने का उसके पास एक ही उपाय था—निसवार से अपने फेफड़ों को छलनी कर देना। लेकिन अब निसवार का भी कोई असर न होता था। इसी नर्मी से माँ ने अपने पति का मुँह भी बन्द कर दिया था। उसके व्यक्तित्व को कुचल दिया था और वह बेचारा कभी अपनी पत्नी की ओर आँख भी न उठा सकता था। उसी तरह घमण्डी भी अपनी माँ के साथ बात करने से घबराता था। माँ ने इस बात को महसूस किया और फिर वही—"मरे तेरी माँ भगवान करे....से....।" लेकिन इस बात का उसे कोई हल न सूझ सका।

आज फिर छै बजे शाम को घमण्डी कारखाने से लौट आया। यद्यपि वह नित्य नथुआ चौकीदार की आवाज़ के साथ मुहल्ले में प्रवेश करता था। इससे पहले वह कोई पुरानी फ़िल्म देखने चला जाता। वाडिया की मिस नाडिया के गीत गाता और एक दो साल से उसके रहस्यपूर्ण ढंग से ग़ायब हो जाने के बारे में सोचता। आज फिर इतनी जल्दी लौट आने से माँ के मन में सन्देह जाग उठे। उसने व्यर्थ ही एक काम पैदा करते हुए कहा, "ले बेटा, ज़ीरा ले आ थोड़ा।"

"ज़ीरा?" घमण्डी ने पूछा, "दही के लिए माँ?"

"और तो क्या तेरे सिर पर डालूँगी?" माँ ने लाड से कहा, और ज़रूरत से ज़्यादा पैसे देते हुए बोली, "ले ये पैसे। थेटर देख लेना।"

"मैं सिनेमा नहीं जाऊँगा माँ।" घमण्डी ने सिर हिलाते हुए कहा, "यही सैर-तमाशा तो हम लोगों को ख़राब करता है।" माँ हैरान होकर अपने बेटे का मुँह तकने लगी। अभी तो ठीक से हाथ पाँव भी नहीं खुले। "इतनी समझदारी की बातें करने से नज़र लग जायेगी रे"....और वास्तव में वह अपने बेटे को शराबी देखना चाहती

थी। नहीं, शराबी नहीं, शराबी से कुछ कम, जिससे एक दम तबाह-हाल न हो जाय कोई। पर यह भलमनसी भी माँ को रास न आती थी। उसने कई बुद्धिमान बच्चे देखे थे, जो अपनी उम्र के लिहाज़ से अधिक बुद्धिमानी की बातें करते थे और उन्हें ईश्वर ने अपने पास बुला लिया था।

घमण्डी ज़ीरा लाने के लिए उठ खड़ा हुआ। पैसे लेकर दरवाज़े तक पहुँचा। संदिग्ध दृष्टि से उसने दरवाज़े के बाहर झाँका, एक क़दम बाहर रखा, फिर पीछे की तरफ़ खींच लिया और बोला :

"बाहर चाची खड़ी है और मुंसी भी है।"

"तो फिर क्या?" माँ ने तेवरों का त्रिशूल बनाते हुए कहा।

"फिर कुछ है।" घमण्डी बोला, "मैं उनके सामने बाहर नहीं जाऊँगा।"

माँ ने समझाते हुए कहा, "तुमने मुंसी का कण्ठा उतार लिया है, जो बाहर नहीं जाते हो।"

लेकिन घमण्डी बाहर न गया। माँ मुँह में दुपट्टा डालकर खड़ी हो गयी। माँ मुँह में दुपट्टा उस समय डाला करती थी, जब वह बेहद परेशान या हैरान होती थी, और अपने कलेजे में मुक्का तब मारा करती थी, जब वह बहुत दुखी होती।....इससे पहले तो घमण्डी कभी शरमाया नहीं था। वह तो मुहल्ले की लौंडियों में डण्ड पेला करता था। स्त्रियों के कूल्हों पर से बच्चे छीन लेता और उन्हें खेलाता फिरता। और इसी बीच में स्त्रियाँ घर का धंधा कर लेतीं और घमण्डी को आशीष देतीं। और आज वह मुंशी और चाची से भी झेंपने लगा था।

घमण्डी ने वापस आते ही अपने पिता के समय का ख़रीदा हुआ एक फटा-पुराना मोमजामा नीचे बिछाया और एक टूटा हुआ शीशा और राल सामने रखकर टाँगें फैला दीं। टाँगों पर कुछ कड़े-से फोड़ों पर

उसने राल लगायी और फिर शीशे की सहायता से मुँह पर रिसने वाले फोड़े से पानी पोंछने लगा, और फिर उस पर भी मरहम लगा दिया। माँ ने अपनी धुँधली आँखों में से मुँह वाले फोड़े का निरीक्षण करते हुए कहा—"हाय, कितना खून खराब हो गया है तेरा।" और करंजवा और नीम के नुस्खे गिनाने लगी।

उस समय तक रात हो गयी थी। राल लगाने के बाद घमण्डी मोमजामे पर ही लेट गया और लेटते ही उसने आँखें बन्द कर लीं। आज माँ को भी जल्दी सो जाने का मौक़ा था। लेकिन वह ऊँचे मोंढे पर ज्यों-की-त्यों बैठी रही। वह जानती थी कि बिस्तर में दुबक जाने पर वह अपेक्षाकृत अच्छी रहेगी। लेकिन एक सुखद आलस्य ने उसे मोंढे के साथ जकड़े रखा, और वह वहीं सिकुड़ती गयी। उसका बुढ़ापा उस मीठी नींद के समान था, जिसमें पड़े हुए आदमी को सर्दी लगती हो, वह अपनी टाँगें समेट कर कलेजे से लगाता चला जाय, पर पाँवों में पड़े हुए लिहाफ़ को उठाने के लिए हिल न सके।

एकाएकी माँ चौंकी। उसे अपने बेटे की ख़ामोशी का पता चल गया था। इस अर्धनिद्रित अवस्था में बड़े-बड़े भेद खुल जाते हैं। माँ ने कलेजे में मारने के लिए मुक्का हवा में उठाया, लेकिन वह वहीं-का-वहीं रुक गया और वह फिर एक सुखद मूर्च्छा में खो गयी। लेकिन उसे घमण्डी और उसके साथ उसका पिता याद आता रहा और उसकी सूखी आँखों में कहानियाँ छलकने लगीं। हवा के एक झोंके से दरवाज़े के पट खुल गये और एक शीतल बवण्डर के साथ बाहर से गोंदनी और श्रीफल के पत्ते गली में बिखरे हुए काग़ज़ों के साथ उड़कर अन्दर चले आये। एक सूखा हुआ फल कहीं से लुढ़कता हुआ देहलीज़ में आकर अटक गया। घमण्डी ने उठकर दरवाज़ा बन्द करना चाहा, लेकिन श्रीफल को निकाले बिना सफलता न मिली।

गींदनी के शोर और झींगुरों के रोर ने माँ के रक्त को और भी जमा दिया। डीवट में दिये की लौ ज़मीन के बराबर हो रही थी। घमण्डी ने कहा, "बिस्तर पर लेटेगी माँ?" पर माँ ने इनकार में सिर हिला दिया। घमण्डी ने सिर हिलाकर माँ को अपने बाज़ुओं में उठा लिया और ज्यों-का-त्यों खाट पर रखकर ऊपर रज़ाई ओढ़ा दी। माँ को स्वयं पता नहीं था कि यदि वह वहीं पड़ी रहती तो सुबह तक सर्दी से अकड़ जाती। फिर वह कभी सीधी न होती और वहीं ख़त्म हो जाती।

माँ को बाज़ुओं में उठाये हुए शायद घमण्डी ने कुछ भी अनुभव न किया, लेकिन माँ को बड़ा अच्छा लगा। और इसके बाद रज़ाई की गर्मी व नर्मी ने इस आनन्द को महा-आनन्द में परिणत कर दिया। कभी माँ ने बेटे को गोद में उठाया था—माँ ने सोचा—और फिर निसवार की एक चुटकी नासापुट में रखकर उसने ज़ोर से साँस ली। वह आनन्द के उस स्तर पर पहुँच चुकी थी जहाँ मर कर मनुष्य उस आनन्द को अमर बनाना चाहता है। आज उसके बेटे ने उसे गोद में उठाया था और उसे बिस्तर की क़ब्र में रख दिया था। वह बिस्तर, जो क़ब्र न हो सका।....संसार में माँ के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यदि पत्नी भी कभी माँ होती है और बेटी भी माँ तो दुनिया में माँ और बेटे के सिवा और कुछ नहीं। स्त्री माँ है और पुरुष बेटा। माँ खिलाती है और बेटा खाता है। माँ रचयित्री है और बेचा रचना है। उस समय वहाँ माँ थी और बेटा....माँ, बेटा....और संसार में कुछ न था।

माँ पूर्ववत् स्वप्न और जागृति के बीच की अवस्था में थी। वह कुछ सोच रही थी, लेकिन उसकी कल्पना की आकृतियाँ अव्यवस्थित होकर स्वप्न के एक अँधेरे पोखर में डूब रही थीं। उसके गाँव के कुछेक घर उसकी गली में चले आये थे, पर किसी रहस्यपूर्ण ढंग से उन मकानों के पीछे भी वही धोबियों का मुहल्ला बसा था। वहाँ भी वही

श्रीफल और गोंदनी के वृक्ष साँय-साँय कर रहे थे। अमावस की रात काजल हो रही थी और बेटे का चाँद उन अँधेरों को चूर-चूर कर रहा था। उसका पति, जिसे भूल से वह दिवंगत समझती थी, जीवित था और उससे सुबह के वक़्त अध-बिलोये....की कटोरी माँग रहा था। उसे प्यास लगी थी। एक न पी हुई शराब के नशे से उसका बदन बुरी तरह टूट रहा था। लेकिन उसका पति तो मर चुका था। दस साल हुए मर चुका था। मरे हुए आदमी को कोई चीज़ देना घर में से किसी और प्राणी को भगवान के पास भेज देने के बराबर है। लेकिन वह इनकार न कर सकी। वह पत्नी थी....और माँ—उसने तत्काल अपने पति के मुँह के साथ लगा हुआ कटोरा छीन लिया। लेकिन क्यों? उसका पति मरा थोड़े ही था। वह सामने खड़ा था। वही कटा हुआ-सा होंठ, जिसमें सोने की कील वाला दाँत दिखायी दे रहा था। बड़ी-बड़ी मूँछें भी उस दाँत को ढाँपने में असमर्थ रही थीं।

दरवाज़े पर दस्तक सुनायी दी और माँ को लगा, मानो किसी ने उसे झकझोर दिया हो। उस समय उसकी आँखों से एक ग़िलाफ़-सा उतरा। लेकिन उस पर एक और ग़िलाफ़ था, जो उसके सारे शरीर को घेरे हुए था। वह पड़ी रही....पड़ी रही....उसके पाँव, जो कुछ देर पहले सर्द और लकड़ी की तरह कठोर थे, कुछ गर्म हो गये थे। शायद घमण्डी ने हमेशा की तरह अपने हाथ रगड़-रगड़ कर उसके पाँव गर्म किये थे। माँ अपनी कल्पना में हँसी। घमण्डी भी उसे मरता देखना नहीं चाहता। बहू आ जाये तो कुछ पता नहीं। पर अब इस घुन लगे हुए शरीर का क्या है?....निसवार....निसवार किधर गयी?....माँ सो गयी, लेकिन दरवाज़े पर दस्तक की आवाज़ बराबर सुनायी दे रही थी। बनवारी और रशीद फिर घमण्डी को बुलाने आये थे। माँ को तनिक संतोष हुआ। घमण्डी फिर ठीक हो जायेगा है। लेकिन सौ गुनी

बेचैनी भी हुई—इनकी संगत फिर घमण्डी को बिगाड़ देगी। उस समय बुढ़िया जग गयी। जागते ही पहली बात जो माँ के मन में आयी, वह इस बात की खुशी थी कि उसने घमण्डी के बाप को अध-बिलोये का कटोरा मुँह से लगाने नहीं दिया, यद्यपि वह कितना प्यासा था और उसका अंग-अंग टूट रहा था। वह बड़ी याचना भरी दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था। वह एक घूँट पी भी चुका था, लेकिन माँ ने समझना चाहा कि उसने कुछ नहीं पिया। और वह समझ गयी। उसने दरवाज़े में खड़े अपने बेटे की ओर देखा और इतनी धीमी आवाज़ में कहा, "मैं वारी लाल !" कि वह स्वयं भी अपनी आवाज़ को न सुन सकी। इसी तरह उसने एक अनसुना चुम्बन हवा की लहरों में छोड़ दिया।

अपनी माँ को सोता देखकर घमण्डी बाहर आ गया और बोला "मैं सिनेमा के अलावा और कहीं नहीं जाऊँगा यार, कहे देता हूँ।"

"निकल बाहर साले।" रशीद ने गाली बकते हुए कहा—"निकलता है या....।"

माँ के दिमाग़ में टिड्डियों और झींगुरों की आवाज़ दूसरी आवाज़ों के साथ बराबर आ रही थी, यद्यपि वह ज्यों-की-त्यों निश्चेष्ट पड़ी थी ! उसकी आँखों को सरकण्डे दिखायी पड़ रहे थे, यद्यपि वह लगभग सोयी हुई थी। घमण्डी ने बाहर से दरवाज़ा बन्द किया और चला गया।

किसी ख़याल के आने से माँ उठकर बैठ गयी। उसे फिर अपना पति याद आया।....और बेटा, जो शक्ल और स्वभाव की दृष्टि से अपना बाप हो रहा था, लेकिन किशोर और वयस्क अवस्थाओं के बीच ही था। कुछ ही दिनों में बालिग़ हो जायेगा। फिर उसे लुगाई की जरूरत होगी। माँ ने दिल में कहा, 'मुझे पता है अब घमण्डी बाहर क्यों नहीं जाता ?'

माँ जानती थी, घमण्डी अपने पिता से अधिक भावप्रवण है। जब वह पीकर आये तो उसे जता देना बड़ी मूर्खता है। और फिर अगली सुबह पल्लू से चवन्नी खोलकर देना भी तो एक चपत है—चपत—मौन चपत! शराब पीकर आये हुए पति....बेटे से जूता-लात करना और चवन्नी खोलकर देना या सिरहाने के पास पानी का कटोरा रख देना एक ही तरह का दुर्व्यवहार तो है। बल्कि यह बात जूते-लात से कहीं अधिक कष्टप्रद है। इसीलिए घमण्डी के पिता ने उसके सामने कभी आँख नहीं उठायी।....बाप में व्यक्तित्व को कुचल देने की वही तो ज़िम्मेदार थी। और अब वह बेटे के व्यक्तित्व को भी कुचल रही है। माँ ने मन-ही-मन फ़ैसला कर लिया कि अब वह कभी अपने पल्लू में दही के लिए चवन्नी नहीं बाँधेगी। और न सुराही सिरहाने के पास रखेगी। और वह स्वयं कुढ़ेगी, लेकिन बेटे को कुछ नहीं कहेगी! उसे यह पता नहीं लगेगा कि मेरी माँ सब कुछ जान गयी है। घमण्डी के पिता का भी यही ख़याल था कि यदि घमण्डी की माँ शोर मचाती या विरोध प्रकट करती तो उस समय तो अवश्य बुरा लगता, लेकिन अन्त में कितनी सुविधा रहती। पहले तो इस लत से छुटकारा मिल जाता, और यदि यह लत बनी भी रहती, तब भी इतनी शर्मिन्दगी का मुँह देखना न पड़ता। अब, जब कि वह चुपचाप पानी का कटोरा सिरहाने रख देती है और जल्दी-जल्दी निसवार नथुनों में डालती है तब सारा नशा हिरन हो जाता है।....शायद घमण्डी इस कोड़े की चोट न सह सका था और उसने शराब पीना और देर से घर आना छोड़ दिया था। ख़ैर, आज से घमण्डी पीकर आयेगा तो वह कुछ नहीं समझेगी....कुछ नहीं कहेगी।

रात के ग्यारह बजे हवा के झोंकों और गोंदनी के पत्तों के साथ घमण्डी भी दाख़िल हुआ। आज हवा घमण्डी से भी अधिक शोर

मचा रही थी। माँ पूर्ववत छत की कड़ियाँ गिन रही थी और मन-ही-मन कोई भूला-बिसरा बिरह-गीत गाकर नींद को भगा रही थी। घमण्डी ने आते ही दोनों हाथों में फूँक मारी, हाथों को रगड़ा और माँ के पाँव थामते हुए बोला—"माँ !" और माँ को जागते हुए पाकर बोला, "अरे, तू सो क्यों न गयी माँ ?"

माँ ने वही संक्षिप्त-सा उत्तर दिया—"अब इन आँखों में नींद कहाँ रे घमण्डी !" लेकिन इससे आगे वह कुछ और न कह सकी। घमण्डी बिलकुल होश में बातें कर रहा था। आज उसने एक बूँद भी तो नहीं पी थी। अब जो माँ ने कुछ न समझने का निश्चय किया था उसका क्या हो? माँ सचमुच ही कुछ न समझ सकी। वह कुछ भी न जान सकी।

पतझड़, जो होना था, हो चुका था। इस बार पुरवा के आखिरी झोंके और तो कुछ न लाये, एक मेहमान लेते आये। माँ ने घमण्डी को बुलाते हुए कहा, "बेटा, ले यह चपनी बदल ला....।" मुहल्ले में चपनी बदलने की रस्म खूब चलती थी। माँ पकी हुई सब्ज़ी चाची के घर भेज देती और वहाँ से खाली बर्तन में पकी हुई तरकारी आ जाती। इस विनिमय में बड़ी बचत थी। दूसरी सब्ज़ी बनाने का झंझट नहीं करना पड़ता था और खाने में बात पैदा हो जाती थी। और चाची से चपनी चलती भी खूब थी। लेकिन घमण्डी ने योंही घड़े-ऐसा सिर हिलाते हुए कह दिया, "मैं अब बड़ा हो गया हूँ माँ, मैं नहीं कहीं जाने का।"

"लो, एक नयी मुसीबत।" माँ ने कहा और प्रसन्न होती हुई बोली, "तू बड़ा हो गया है तो क्या ?"

उस समय मेहमान कहीं बाहर गया हुआ था। घमण्डी ने मोम-जामा झिलंगी खाट के पास बिछा रखा था और उस पर बैठा फोड़ों पर राल लगा रहा था। वे फोड़े अच्छे होने ही में न आते थे। माँ ने आँचल की हवा करते हुए रिसते फोड़ों पर से मक्खियाँ उड़ायीं और बोली, "तेरा तो खून बिलकुल खराब हो गया है।"

और वास्तव में घमण्डी का खून खराब हो गया था। उसके बाप-दादा ने उसे पाक-पवित्र खून दिया था, लेकिन बेटे ने खून में तेज़ाब डाल दिया और खून फट गया। शरीर भी साथ-साथ फटने लगा। कुछ अपराधी दृष्टि से घमण्डी ने अपनी माँ की ओर देखा और बोला, "माँ, मुझे गर्मी हो गयी है।"

माँ के सारे तेवर प्रश्न के रूप में उठ गये और उसने केवल इतना कहा, "क्या रे?"

घमण्डी ने झिलंगे की लटकती हुई रस्सियों को थामते हुए कहा—"यह रशीद की करतूत है।" और वह अनायास रोते हुए बोला—"इसमें मेरा कोई क़सूर नहीं माँ।"

माँ ने एक बार फिर कहा, "क्या?" और घमण्डी की गर्मी जैसे लपलपा उठी। उसने माँ को एक गाली देनी चाही, पर वह रुक गया। घमण्डी अब स्वयं भी चाहता था कि माँ को उसके रोग का पता चल जाय। बेटे को रोते देखकर माँ ठिठककर रह गयी। रोग तो जी के साथ लगा हुआ है। लेकिन इतना खून कभी किसी का ख़राब नहीं हुआ। और उसने सोते में अपने स्वर्गवासी पति को अध-बिलोया पिला दिया था।

विवश होकर घमण्डी फिर वयस्कता—पथ-भ्रष्ट वयस्कता—की कहानी रोने लगा। आज से पचास साल पहले इस वयस्कता को ज़िन्दगी के पेड़ पर इतना पकने नहीं दिया जाता था कि वह सड़कर

अपने-आप नीचे गिर पड़े और फिर सारे जग को गन्दा कर दे। माँ, जिसका विवाह दस बरस की उम्र में हो गया था, इस बात को नहीं जानती थी। जिस तरह शरीर-विज्ञान से अनभिज्ञ लोगों के लिए पीठ का प्रत्येक भाग कमर होता है, उसी तरह इस अनभिज्ञ, अबोध और नादान माँ के लिए यह खून की खराबी, गर्मी या कोढ़ से अलग कुछ नहीं थी। और यह सब कुछ करंजवा, नीम और इसबगोल के 'जादू' के आगे न ठहर सकता था।

अब माँ 'क्या रे,' नहीं कहना चाहती थी, यद्यपि उसे किसी बात की समझ नहीं आयी थी। वह जानती थी, जब से घमण्डी का खून ख़राब हुआ है वह बहुत चिड़चिड़ा हो गया है। घर में चीज़ें फोड़ने लगता है और यदि कुछ कहो तो अपना सिर फ़र्श पर दे मारता है।

माँ स्वयं चपनी बदलने चली गयी। घमण्डी की चाची ने अपने घर की पकी तरकारी तो दे दी, पर उनके घर की पकी चीज़ स्वीकार न की। माँ का माथा ठनका। दस साल से वह अकेली रँडापा काट रही थी और उसने किसी सम्बन्धी के सामने सिर नहीं झुकाया था। आज, जब कि वह कुल के सारे रहस्यों से अवगत हो चुकी थी, भला क्यों झुक जाती? माँ अपनी देवरानी के साथ जी खोल कर लड़ी। देवरानी ने भी धता बताया और कहा, "देखा है हमने, इतनी बड़ी नाक लिये फिरती है तो अपने बेटे को सम्हाला होता जो बाज़ार में झख मारता फिरता है।"

माँ ठीक कहती थी कि 'चपनी बदलने' से घमण्डी का क्या सम्बन्ध। वह यदि व्यवहार नहीं रखना चाहती तो वैसा कह दे। लेकिन वास्तव में कोई बात थी जो माँ की समझ में नहीं आ रही थी। खून खराब घमण्डी का हुआ है और वह गालियाँ रशीद और बनवारी को देता है। देवरानी बरतना मुझसे नहीं चाहती और कोसने घमण्डी को देती है।

लेकिन मुहल्ले की दूसरी स्त्रियाँ भी माँ को ताने देती थीं। माँ सख्त परेशान हो रही थी। आखिर मुन्शी जी से लड़ाई हुई। उसने डाँटा कि अगर घमण्डी ने हमारे मकान के आस-पास कहीं लघुशंका की तो उससे बुरा कोई न होगा।

आखिर मेहमान के समझाने से माँ को पता चल गया। उसने न केवल अपना सिर पीटा, बल्कि एक दोहत्थड़ बेटे के भी जमा दिया। —"हाय, तूने बाप-दादा का नाम डुबो दिया है रे!" पड़ोसिन के साथ फिर लड़ाई हुई और माँ ने खरी-खरी सुना दीं।—"हराम खोर! तुझे वह दिन याद है जब तेरी बहन हराम करवा के निकली थी बावा के घर से....न अन्धा देखा था न काना। कर्णे की करनी थी.... और वहाँ जाकर घड़ा फोड़ दिया था ग़रीब ईसर के सिर पर।"

और घर आकर माँ घमण्डी को कोसने लगती। घमण्डी जब सब हकीमों से निराश होता था, तब माँ की हिकमत में आराम पाता था। लेकिन माँ उसे गालियाँ देती थी—"मसान भोग ले तुझ को....!" अब दुनिया घमण्डी की आँखों में फफोला थी—बड़ा फफोला—जो उत्तर से दक्खिन और पूरब से पच्छिम तक फैला हुआ था और जिसमें पीप की नदियाँ रिस रही थीं।

रात हो गयी। माँ झिलंगे में पड़ी अभी तक दुनक रही थी—"यह रोग कहाँ से मोल ले लिया रे मेरे दुसमन! सारा बदन फोड़े-फोड़े हो चुका है।....यह रोग आग है, निरी आग! यह अमीरों की दौलत है। मैं निर्धन स्त्री इस आग को कैसे बुझाऊँ?....मैं वैद्यों को क्या बताऊँ?....मैं तेरी माँ हूँ रे घमण्डी!....नातेदार मुझे ताने देते हैं। पड़ोसी मुझे रोक कर अजीब बेढंगे सवाल करते हैं रे!"

घमण्डी पास ही पड़ा हर तरह की लाज-शर्म से बेपरवाह एक टक छत की ओर देख रहा था। छत में लगे हुए सरकंडे उसकी आँखों में

उतर आये थे और झींगुर उसके दिमाग़ में बोलने लगे थे। अब तक हवा के झोंकों में कटुता की स्पष्ट लहर उसके शरीर के ईंधन में और भी लपटें पैदा कर रही थी। किवाड़ भी खुले हुए थे। गोंदनी गर्म हवा के झोंकों में कराह रही थी और आकाश पर भद्दे दाग़ों वाला उपदंश का मारा चाँद अपनी पीली-पोली आँखों से धरती की ओर देख रहा था।

इसके बाद आमाशय के खमीर ने घमण्डी की आँखों में एक अदृश्य धुंध-सी फैला दी। उसकी पलकें बोझिल होने लगीं। सरकंडे छत पर चले गये। झींगुरों ने मौन धारण कर लिया। फोड़े रिसने बन्द हो गये।

सारी दुनिया सो रही थी, लेकिन माँ जाग रही थी। उसने बीस के लगभग निसवार की चुटकियाँ नथुनों में रख लीं और उठ खड़ी हुई। दायें हाथ से उसने दिया उठाया और घिसटती हुई अपने बेटे के पास पहुँची। धीरे-धीरे उसके बालों में हाथ फेरने लगी। घमण्डी सोया हुआ था। पर माँ की ममता उसके रोम-रोम को संत्वना दे रही थी। माँ ने बेटे की ओर देखा और मुस्करायी। बोली—"मैं वारी, मैं न्योछावर तुझ पर। दुनिया जलती है तो जला करे....मेरा लाल जवान हो गया है न? इसीलिए....हाय, मरे तेरी माँ भगवान करे—से।"

ज़ैनू

ऊँघ जाने के बाद देर तक सिगरेट का वह टुकड़ा मेरी उँगलियों में बे-इरादा थमा, जला किया....जला किया....

ऊँघने की क्रिया में मुक्ति का जो पहलू होता है, मैं उसका पूरा-पूरा आनन्द लेना चाहता था। जागृति की कटु वास्तविकताओं को किस तरह मनुष्य स्वप्न के सुन्दर असत्य में खोये चला जाता है।....एकदम सिगरेट के बिच्छू ने मुझे दो उँगलियों के बीच काटा। मैं अपनी जगह से उछल पड़ा। सिगरेट ने एक लम्बी छलाँग लगायी और चटाई पर गिरकर सुलगने लगा। उसे पाँव से बुझाते हुए मैंने मेज़ पर पड़ी प्याली को हाथ से छुआ। चाय शर्बत हो चुकी थी और 'न्यू जहाँगीर रेस्तराँ' का सुन्दर ईरानी छोकरा और दहकते हुए कोयले, पास-पास पड़े, एक दूसरे से हमदर्दी करते हुए, सोते-सोते सो ही गये थे।

सर्द लोहू वाले जन्तु, जैसे सिक्खों के शासन-काल में बनी हुई हमारी इस कोठरी की टूटी-फूटी छत के पीछे बसने वाले लिजलिजे कीड़े, कनखजूरे, छिपकलियाँ और उनके रेंगने वाले भाई-बन्धु जम चुके थे। रक्त का संचार उनकी नसों में सुस्त पड़ गया था, यहाँ तक कि उन्होंने ख़ूराक के लिए भी हाथ पाँव मारना छोड़ दिया था। वह चालाक छिपकली, जो प्रतिदिन दबे-पाँव रोशनी के गिर्द मँडराने वाले पतिंग का शिकार करने आया करती थी, उस दिन न आयी। और झींगुरों ने

भी तो शाम ही से शोर मचाना शुरू कर दिया था, जब कि अभी सूर्य की अंतिम किरणों की गुलाबी गर्मी को सर्दी परास्त कर रही थी। सर्दियों के शुरू में मैदान में उतर आनेवाली अबाबील, जिसने रेस्तराँ के क्लॉक के पीछे अपना घोंसला बना रखा था, पंख फड़फड़ाकर अपने बच्चों को उनमें लपेटते हुए, उनकी गर्मी को नष्ट होने से बचा रही थी।

उस समय मैं बहुत से नर्म-गर्म कपड़ों में लिपटा हुआ था और मेरी कटुस्मृति पर विस्मरण की मूर्छना छा रही थी। अचानक सिगरेट ने मुझे जगा दिया और आँखें खुलते ही मेरी नज़र छत पर एक बेक़ायदा दायरा बनाती हुई, चारपाई के नीचे दो सिमटे हुए पैरों पर जा पड़ी। कुछ देर असमंजस की अवस्था में मैं उन पैरों को घूरता रहा। फिर यकायक किसी विचार के आने से मैंने उन पैरों को छू दिया। छुआ ही नहीं, बल्कि ज़ोर से खींचा और चिल्लाया—"ज़ैनू के बच्चे....!"

ज़ैनू, उन पैरों का स्वामी, एक तीस वर्षीय बूढ़ों को शर्माने वाला युवक, लिजलिजे कीड़े की तरह सिकुड़ गया। लेकिन यह जानते हुए कि अब वह छिप न सकेगा, अपनी कोहनियों की मदद से पीछे को सरका, उकड़ूँ बैठा, उसने बालों को झटके से पीछे किया और निरलज्जों की तरह सीधा खड़ा हो गया। मुझसे नज़रें चुराने के बदले उसने मेरी आँखों-में-आँखें डाल दीं। मैंने उसे कान से पकड़ा और खींचता हुआ लैम्प के पास ले गया, बिलकुल उसी तरह जैसे वह चालाक छिपकली किसी बड़े से पतिंगे को पकड़कर रोशनी की ओर बढ़ती थी।

ज़ैनू की आँखें आज नित्य की अपेक्षा अधिक रक्ताभ हो रही थीं। बाल भी पहले से कहीं ज़्यादा अस्तव्यस्त थे और निचला होंठ लटक कर पान खाये दाँतों की कालिमा को और भी स्पष्ट कर रहा था। उसके पीले, दुबले, 'आमदनी कम ख़र्च ज़्यादा' चेहरे की रेखाएँ गहरी हो रही थीं और उसके चोरी के दिनोंदिन बढ़ते हुए अनुभव को प्रकट कर रही

थीं। शायद ज़ैनू चोरी के द्वारा अपनी आमदनी को ख़र्च के बराबर करना चाहता था। चोरी के रुपये आमदनी को ख़र्च के बराबर ही नहीं करते, बढ़ा भी देते हैं, पर 'वह आमदनी कम ख़र्च ज़्यादा' चेहरे की रेखाओं को नहीं भरते और शायद इसीलिए चोरी का-सा नेक और लाभप्रद व्यवसाय बुरा है।

मैंने किंचित सख़्ती से उसके कालर को खींचा और मुझे याद आया कि ज़ैनू की पहनी हुई क़मीज़ मेरी अपनी है—वही, जो मैंने चन्द दिनों के लिए उसे पहनने को दी थी। अपनी पकड़ को ढीला करते हुए मैंने पूछा, "क्यों बे, साले! बदमाश! बोलता क्यों नहीं? क्या हो रहा था यहाँ?"

'मैं यों ही पड़ा था....मैं सोते-सोते चारपाई से गिर पड़ा था.... मैं चारपाई के नीचे आपके लाल कम्बल को ढूँढ़ रहा था....वही फटा हुआ कम्बल जो आपने फटा, बेकार समझकर फेंक दिया है....वही.... वही जिसमें जुएँ पड़ गयी थीं। याद नहीं आपको? हाँ-हाँ वही।'.... और इस तरह की बकवास के बदले उसने अपने सिर को झिंझोड़ा और दो-टूक जवाब दिया—

"चोरी!"

इस संक्षिप्त, भरपूर मनोविज्ञान-प्रियता की परीक्षा लेनेवाले उत्तर ने मुझे कुछ क्षणों के लिए निरुत्तर कर दिया और मैं एक ऐसी दुनिया में खो गया जहाँ ईमान और शराफ़त सापेक्ष्य-सी बातें हो जाती हैं और किंचित विश्लेषण से ईमानदारी और चोरी में कोई वैसा अंतर नहीं रह जाता। उस स्वच्छन्द मौन की दशा में मैंने अपने आपसे प्रश्न किया—साला क्या अपनी घृणित करतूतों से बाज़ न आयेगा? कई बार इसे चोरी के अभियोग में काफ़ी सज़ा दी जा चुकी है....जिस तरह नीले रंग का शीशा सफ़ेद रोशनी के शेष छै रंगों को सोखते हुए

नीले रंग को ही गुज़रने की अनुमति देता है, उसी तरह इसकी प्रवृत्ति भी सब अच्छी बातों को पचाते हुए चोरी की ओर ही स्वतन्त्र रूप से अग्रसर होती है।

"तुमने खान का सूटकेस खोला है?" मैंने उसे आस्तीन से पकड़ते हुए कहा।

"हाँ!"

"अगर खान देख ले तो?"

ज़ैनू काँप रहा था। डर से नहीं, सर्दी से! बोला—"देख ले तो पकड़ ले, इसी तरह आस्तीन से या गले से, जैसे आपने मुझे पकड़ रखा है और नहीं छोड़ते। वह भी न छोड़ता तो क्या बिगाड़ लेता मेरा....?"

मेरी बात के उत्तर में ज़ैनू यह भी कह सकता था—आप ही की क़मीज़ फट जाती न....मेरा क्या बिगड़ जाता? और यों धृष्टता के अतिरिक्त एक चुटकला हो जाता। लेकिन अब जो कुछ हो रहा था, वह भी क्या किसी चुटकले से कम था? मैंने प्रभावित होते हुए उसकी आस्तीन को छोड़ दिया। चेस्टर को अपने गिर्द लपेटा, बटन बन्द किये और उसके कंधे को थपकते, होंठों से एक चुम्बन की ध्वनि पैदा करते हुए कहा—

"शाबाश! अल्लाह तुम्हारे नेक इरादों में बरकत दे बेटा!"

और फिर पलटते हुए मैंने ग़ुस्से से कहा, "जेलखाने की हवा रास आयेगी तुझे, उल्लू के पट्ठे!"

उसी समय ज़ैनू ने उँगुलियों की कंघी बनायी, अपने अस्तव्यस्त बाल ठीक किये और अपने घुटनों से मिट्टी झाड़ी। मेरी बात के जवाब में वह तनिक साहस से बोला, "आपके ख़याल में जेल की ज़िन्दगी इस ज़िन्दगी से बुरी है? वहाँ भी अल्लाह रोटी देगा। अल्लाह सब का

राज़िक़ (अन्नदाता) है। वल्लाहो खैरुर्राज़िक़ीन....!" (भगवान सब को रोज़ी देने वाला है)

मैंने दिल में सोचा—अजीब है अल्लाह ! और फिर मैंने कहना चाहा, अल्लाह मेरा भी तो राज़िक़ है। 'वल्लाहो खैरुर्राज़िक़ीन' मुझ पर भी तो लागू होता है। और बेहतर ढंग से उस खान पर, जिसका सूट-केस तुमने अभी-अभी नापाक इरादे से खोला है।

....और फिर ज़ैनू स्वयं ही चुपचाप 'डिटमार' की खाली पेटी पर बैठ गया। शायद वह अँधेरे में बैठकर अपनी ग्लानि को छिपाना चाहता था। मैं चेस्टर और जूतों सहित बिस्तर में जा घुसा और एक कोने से उसे देखने लगा। ज़ैनू बड़ी बेपरवाही से बैठा अपने दाँतों की मैल कुरेद रहा था। फिर उसने सावधानी से क़मीज़ उतारी। मैंने संतोष की साँस ली और सोचा, ज़ैनू को कुछ भी कहना व्यर्थ है—निरर्थक ! मैंने उसे स्टोव गर्म करने को कहा और स्वयं उठकर खान का सूटकेस बन्द करने लगा। उस समय खान ने चारपाई पर करवट बदली, चारपाई चीखी और मैंने काँपकर सूटकेस पर से हाथ उठा लिया। खान अपनी पतली रज़ाई में सिकुड़ गया। शायद खून का दौरा उसकी नसों में भी सुस्त पड़ चुका था।

ज़ैनू का पूरा नाम ज़ैनुल आबिदीन था—आबिदों की ज़ीनत—पूजारियों की शोभा। लेकिन चोरी अजीब-सी पूजा है, जिसका आदेश हमारे धार्मिक ग्रंथों में शायद भूल से रह गया है। यदि हमारा आराध्य दूसरों के प्रति अन्याय और अत्याचार को देखकर भी जड़ रहता है, अपनी स्तुति से भी टस-से-मस नहीं होता या वह कोई बड़ा चोर है, तो ज़ैनू यथा नाम तथा गुण था।

वास्तव में ज़ैनू का कोई ख़ास नाम नहीं था। सिर्फ़ इसलिए कि

सब उससे कुछ अतिरिक्त प्रेम करते थे—प्रेम, जो घृणा के बाद पैदा होता है, जिसमें भावुकता का हाथ होता है, विवेक का नहीं। ज़ैनू का नाम समय और स्थान के अनुसार रख लिया जाता था। इस स्थायी नाम न होने पर ज़ैनू को आपत्ति थी, लेकिन आपत्ति तीव्र नहीं! वास्तव में ज़ैनू के यहाँ तीव्रता किसी बात की न थी। वह न खिलखिला कर हँसता और न गिड़गिड़ाकर रोता। उसके रोने और हँसने में भेद करना कठिन था।....माँ-बाप शायद ज़ैनू को हिलाले-ईद और इसी तरह के मुश्किल नामों से पुकारते होंगे, बजाय इसके कि हरामी या ऐसे ही किसी आसान नाम से पुकारते। कोठरी में बसने वाले यार लोग सब-के-सब ज़ैनू पर लट्टू थे। इसीलिए वे हर बार उसे अपने मनमाने नाम से पुकारते। खान और वहीद उसे 'बेटा' कहकर बुलाते थे, शरीफ़ कातिब उसे 'साला' कहा करता था, और ज़ैनू जब साले के नाम पर 'जी' कहकर जवाब देता तो शरीफ़ को एक खास तरह की खुशी होती। वह खुशी जो गुदगुदी या मीठी-मीठी खुजली से मिलती-जुलती है और प्रायः ऐसे रिश्तों से ही हिस्से में आती है। कोई अपने खयाल में बाप था और कोई बहनोई, और इस तरह बिना किसी औरत के वहाँ एक बड़ा-सा कुटुम्ब बस रहा था।

हमारी कोठरी में एक नौ-मुस्लिम राजपूत रहता था। खान उसे शिष्टता के नाते मेहदी-ए-इस्लाम के नाम से याद करता था। उस व्यक्ति का पेशा नक़ली चीज़ों पर पेटेंट के लेबिल चिपका कर बेचना था। मेहदि-ए-इस्लाम नया मुसलमान होने के कारण बहुत पारसा और नमाज़ी था और चूँकि वह स्वयं कुँआरा था, इसलिए ज़ैनू को साले के बदले मामूँ कह दिया करता था।

मुझसे ज़ैनू की पहली मुलाक़ात एक दुर्घटना-ऐसी ही थी। पक्के पुल के ऐतिहासिक दंगे में मैं घायल होकर अस्पताल में भरती किया

गया। वहाँ मेरे साथ ज़ैनू की चारपाई थी। उसे शायद चोरी के अभियोग में पीटा गया था। उसका चेहरा धूल और मिट्टी में अटा पड़ा था। उसमें से दो आँखें बाहर घूर रही थीं। मुँह से खून बह रहा था। उसकी जेब में दो दाँत थे जो उसने बड़ी सावधानी से सम्हाल कर रखे थे। शायद उन्हीं दाँतों के सिलसिले में उसने मुझे बुलाया और पूछा—

"आप क्या काम करते हैं?"

"दारुलतर्जुमा में नौकर हूँ।" मैंने कहा।

"क्या नौकरी है?"

"दबीरे-अव्वल।"

"दबीरे अव्वल क्या होता है?"

"हेड क्लर्क....बड़ा क्लर्क, मुन्शी, बड़ा मुन्शी, बड़ा बाबू!" मैंने किंचित विस्तार से समझाया।

ज़ैनू, जो उस समय बैठा हुआ था, निराश-सा होकर पलँग पर लेट गया। उस समय दोनों दाँत उसकी मुट्ठी में बन्द थे, जिन्हें वह मुझे दिखाना चाहता था। वह जमुहाई लेते हुए बोला, "मैंने समझा आप ज़िला कचहरी में चपरासी हैं।"

मैंने अपनी शर्मिन्दगी को छिपाते हुए कहा, "आपने यह अन्दाज़ा कैसे लगाया?"

"आपकी शक्ल से।" उसने निस्संकोच कहा।

मैंने लज्जित हो, सिर को झुका लिया। दाँत दिखाते हुए ज़ैनू एक भेद-भरे स्वर में बोला, "उन हरामज़ादों ने मेरे दो दाँत तोड़ दिये हैं। अब भला ये दूध के दाँत थोड़ी हैं, जिन्हें सूरज की तरफ़ फेंक दिया जायेगा और ये फिर से पैदा हो जायेंगे। क्या आपका कोई वखील (वकील) वाकिफ़ है जो लाट की कचहरी (हाई कोर्ट) तक

पहुँचता हो ? मैंने सुना है, दाँत तोड़ना सरकार में बड़ा जुर्म है। दाँत तोड़ने वाले से पचास रुपया जरीमाना (जुर्माना) वसूल करके दाँत के मालिक को दिया जाता है। अब मेरे पास मुक़दमे के लिए पैसे नहीं हैं। आप मुक़दमा करके इन दो दाँतों का सौ रुपया ले लें और बीस मुझे दे दें। मुझे बड़ी ज़रूरत है।"

भला इससे अधिक लाभदायक सौदा और क्या होगा।—मैंने सोचा और फिर ज़ैनू से भी अधिक भेद-भरे स्वर में मैंने कहा—"सौ ?....शायद तुम्हें दो सौ मिल जायें। इन दाँतों को नीलाम-घर में पहुँचा दो।"

उस समय ज़ैनू लगभग अधमुआ हो रहा था। मैंने पैसों, चुकटलों, शेरों और खूबसूरत औरतों की तस्वीरों से ज़िन्दगी में मिटते हुए उसके विश्वास को ज़िन्दा रखा। मेरे साहचर्य में वह बहुत जल्द स्वस्थ हो गया। मैंने इससे भी आगे एक क़दम उठाया। ज़ैनू, जो बिलकुल निःसहाय और निराश्रित था, उसकी लाचारी का अहसास करते हुए, या दूसरे शब्दों में अपनी भावनाओं के वशीभूत हो, मैंने उसे अपने पास बुला लिया। लेकिन उसने आते ही मुझे तरह-तरह की परेशानियों में उलझा दिया। प्रायः मैं सोचता हूँ, मैंने क्या बुरा किया जो एक बाज़ारी कुत्ते की तरह सस्ते, एक कीड़े की तरह बेक़ीमत इन्सान को पतन के गढ़े से निकाला और अपनी कोठरी में बसने वाले भलेमानुसों के निकट ला बैठाया....फिर मेरा मन स्वयं ही उत्तर देता—तुम्हारा ही तो सारा दोष है कि तुमने एक कीड़े को आस्तीन में रखा। कीड़े का उचित स्थान गन्दगी है।

फिर खयाल पैदा हुआ, इस भले काम में भावनाओं ने तुम्हें कितना आनन्द दिया होगा, जिसे तुम आध्यात्मिक आनन्द कहते हो। इस आनन्द का तुम्हें मूल्य चुकाना होगा। भावनाएँ !—भावनाएँ

हमेशा आदमी को विवेक की तुलना में मँहगी पड़ती हैं। लेकिन अगर कोई मेरे बहुत ही निकट होकर पूछे—क्या तुम स्थितप्रज्ञता को पसन्द करोगे या क्षणिक भावनाओं को, तो मैं निस्संकोच कहूँगा—भावनाओं को !

आदत !....मैं सिगरेट पीते-पीते ऊँघ जाता हूँ और जब उँगली जलती है तो चौंक उठता हूँ। एक दिन किसी मुतरज्जिम (अनुवादक) की मौत पर दारूलतर्ज़मा में छुट्टी थी और मैं दोपहर ही को अपनी कोठरी की छत पर धूप में पड़ा ऊँघ रहा था। मेरे हाथ में पूर्ववत् सिगरेट था, जबकि 'न्यू जहाँगीर रेस्तराँ' के ईरानी छोकरे ने पीकदान लाकर मेरे पाँव में रक्खा। अभी सिगरेट ने मेरा हाथ भी न जलाया था कि सीढ़ियों पर धमाधम की आवाज़ें सुनायी पड़ीं। मैं जाग उठा।

खान, वहीद, मेहदि-ए-इसलाम, रेस्तराँ का मैनेजर सब-के-सब मेरे सामने खड़े थे और चीख-चीख कर मेरे दिमाग़ में घुसा चाहते थे।

"मेरी घड़ी ले गया है साला।" शरीफ़ ने कहा।

"और मेरी मशहदी लुंगी।" खान आँखें दिखाते हुए बोला।

रेस्तराँ का मैनेजर कहने लगा, "तीन रुपये सात आने का बिल दो महीने से अदा नहीं किया।"

सब से आखिर में मेहदि-ए-इसलाम बोला, "मेरे पाँच रुपये उड़ा लिये हैं, माँ के खसम ने....।"

मेहदी ने वह गाली तनिक स्पष्ट रूप से न दी थी। मैंने सोचा, शायद मेहदी ने मामूँ-भानजे का रिश्ता बदल दिया है और उसे माँ का पति बना लिया है। यह नया रिश्ता अजीब है। आखिर ये पारसा और नामाज़ी लोग गाली देने की सूक्ष्म कला में निपुण क्यों नहीं होते? साधारण-सी स्पष्टता, शब्द 'अपनी' की वृद्धि से एक भरपूर गाली हो

जाती। खैर, मैंने सबको एक-एक करके समझाया। वे मूर्ख अपनी हानि की पूर्ति मुझसे कराना चाहते थे, क्योंकि मैंने ही उसे वहाँ लाकर रक्खा था और ज़ैनू के हर आचरण के लिए मैं ही ज़िम्मेदार था। यह क्या कम रिआयत थी कि ज़ैनू से किराया नहीं लिया जाता और उसे 'दारुल अमाँ' (शान्ति गृह, यह हमारी कोटरी का नाम था) में शरण दी जाती थी। शायद वे सब लोग मुझसे बहुत ही अनुचित व्यवहार करते और लड़ाई के फलस्वरूप तो शायद एक-एक, दो-दो हड्डियाँ ही उनके हिस्से में आतीं, लेकिन मैंने ज़मानत लेते हुए कहा कि यदि ज़ैनू शाम तक न लौटा तो मैं पहली तारीख को सबका नुक़्सान चुका दूँगा। उन सब को पहली तारीख पर आपत्ति थी, लेकिन मैंने सोच रखा था कि हो सकता है, ज़ैनू शाम तक न आये तब भी पहली में जुमा-जुमा—पूरे आठ दिन पड़े हैं, और मेरे साथी मुझे कम-से-कम इतनी रिआयत तो दे सकते हैं कि पहली तारीख से पहले ज़ैनू के आ जाने पर मुझे छोड़ दें।

इसके बाद मैं 'टूटा हुआ दिल' देखने के लिए सिनेमा चला गया। जब रात के दस बजे लौटा तो मैंने देखा कि ख़ान की लुंगी खूँटी पर टँगी थी और शीशम की तिपायी पर शरीफ़ की घड़ी रात के सन्नाटे में टिक-टिक कर रही थी। कोने में मेरे स्वेड के बूट रखे थे, जो मैंने कुछ दिन हुए बिलकुल नये ख़रीदे थे और उन्हें अभी तक घिस जाने के डर से नहीं पहना था और अपने पुराने जूतों को लगातार इस्तेमाल करता आ रहा था। अब वे अजगर की तरह मुँह फाड़े कीचड़ में लथ-पथ पड़े थे। शायद उन्हें भी ज़ैनू पहन गया था, जिसका मुझे अब तक पता न चला था। अपने बूटों के यों ख़राब हो जाने पर मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैंने वहीद से कहा, "वहीद! इसका मतलब है, ज़ैनू आ चुका है वापस।"

वहीद ने एक पुरानी सी जंत्री, जिसके पन्ने वह उलट रहा था, नीचे पटक दी और कोने में पड़ी पेटी की ओर इशारा किया।

कोने में ज़ैनू बैठा था। उसके बाल बिखरे हुए थे, चेहरा मिट्टी से अटा पड़ा था और उसके नीचे का होंठ बुरी तरह लटक रहा था। मैंने उसी समय भाँप लिया कि 'ताल्लुक़ेदारों' ने मिलकर उसे बुरी तरह से पीटा है। आज मैं भी उस बोहीमियन को पीटना चाहता था। आख़िर उसने मेरे स्वेड के बूटों का सत्यानाश कर दिया था। मैंने उसे गर्दन से पकड़ा और हमेशा की तरह लैम्प के निकट लाते हुए कहा—"अबे तू मेरा बूट पहन गया था। किसने इजाज़त दी थी तुझे?'

लेकिन ज़ैनू ने मेरे स्वभाव की दुर्बलता को पा लिया था, जैसे संकट के समय जानवर अपने सहज-ज्ञान से अपने बिल को पा लेते हैं। वह अपने सीधे-सादे शब्दों से मेरे अन्तर में ऐसे भाव जगा देता कि मेरे हाथ उठते-उठते रुक जाते। वह बोला—"आप लोगों को खयाल ही नहीं आता। जब आप बूट पहने हुए फिरें और मैं इतनी सर्दी में नंगे पाँव फिरूँ तो क्या यह इन्सानी (इन्सानियत) है। देखो तो मेरे पाँव कैसे सूज रहे हैं।"

और ज़ैनू अपने नंगे पाँव दिखाने लगा। पाँव बर्फ़ की तरह ठंडे और सूजे हुए थे। एड़ियों और तलुवों पर आवारगी और विपदाओं के एक लम्बे-चौड़े नक़्शे की रेखाएँ थीं, जिसमें युग के प्रगतिशील चित्रकार ने खून की नदियाँ बना दी थी। मैंने ज़ैनू की गर्दन छोड़ दी और बूटों को पाँव में पहन कर देखा। मेरे स्वेड के बूट दो अँगुल के लगभग खुल चुके थे और कीचड़ में भीग कर एक गिद्ध की लाश-ऐसे दीखते थे।

बिलकुल एक ही कमरे में, क्या यह सम्भव हो सकता है कि एक

इन्सान चेस्टर में लिपटा रहे और दूसरा उसके सामने सर्दी से अकड़ा करे ? एक इन्सान के पाँव सर्दी से फट जायें और दूसरा नर्म-गर्म मोज़े पहने ? एक इन्सान गर्म-गर्म चाय, कॉफ़ी या ब्रांडी पीकर समय, स्थान और सापेक्षता के आधुनिक दृष्टिकोणों पर बहस करे और दूसरा इन तमाम बातों से बेखबर एक कोने में दुबका हुआ घोर एकांत और परायेपन का आभास पाता रहे ? एक व्यक्ति के पास भोग-विलास के लिए अतिरिक्त पैसा हो और दूसरे को इनसे वंचित रखकर उसमें यौन-सम्बन्धी दोष पैदा होने दिये जायें।

उन दिनों मनोविज्ञान की एक पुस्तक मेरे हाथ आयी। उसे पढ़-कर मैंने ज़ैनू की इस गन्दी आदत के हर पहलू पर विचार किया। मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँच सका कि ज़ैनू के इस स्वभाव का कारण केवल-मात्र अभाव है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। बचपन से उसे हर चीज़, हर विभूति से वंचित रहना पड़ा है—शिक्षा, सभ्यता, धर्म, भलमनसाहत और क़ानून की आड़ में उसके सहज अधिकार मार लिये गये हैं। इसीलिए वह चोरी करता है। दूसरों के बूट, लुंगियाँ, घड़ी और स्वेड के जूते पहन कर औरतों को फाँसने का प्रयास करता है। और अब चोरी एक पुरानी बीमारी की तरह जड़ें पकड़ चुकी है। उसको रोकने के लिए कितनी मात्रा में रसायन की ज़रूरत होगी; उसके अन्तर को प्रभावित करने के लिए क्या कुछ न करना पड़ेगा; कितना समय दरकार न होगा इस नासूर को जड़ से उखाड़ने के लिए !

मैंने मन में निश्चय कर लिया कि वे जूते मैं ज़ैनू को दे दूँगा। दो अंगुल तो वे पहले ही खुल चुके हैं। उनसे मुझे लाभ ही क्या है। इसके अतिरिक्त मैंने सवा पाँच रुपये में खुरदुरा-सा ख़ाकी पट्टू का कोट ज़ैनू के लिए ख़रीदा ताकि वह सर्दी से न काँपे, बल्कि मेरी

बातों का तनकर, आँखों में आँखें डालकर उत्तर दे और मैं चुपके से सह जाऊँ ।....भावना ही तो है !

मैं धीरे-धीरे घर को लौट रहा था और सोच रहा था कि आज ज़ैनू कितना खुश होगा । वह मुझे कैसा फ़रिश्ता समझेगा । इस खुशी में वह कितनी छलाँगें लगायेगा, मुझसे लिपटेगा । कहेगा, अल्लाह तुम्हें एक खूबसूरत बीवी दे । अल्लाह सब का राज़िक़ है । वल्लाहो खैरुर्राज़िक़ीन....

मैंने 'दारुल अमाँ' में क़दम रखा । ज़ैनू उसी तरह एक लिजलिजे कीड़े-सा सिकुड़कर एक कोने में पड़ा था । मैंने सोचा, आज शायद फिर किसी ने इस बेचारे को मारा है । मैं इन भावनाहीन, बुद्धिमान बर्बरों को इसकी अच्छी तरह सज़ा दूँगा । मैं इन लोगों को अब भी ख़रीद सकता हूँ । इनसे ज़ैनू के सारे रिश्ते-नाते तोड़ सकता हूँ । लेकिन नहीं, ज़ैनू को किसी ने नहीं पीटा था ।

मैंने कोने में पड़े हुए ज़ैनू को कान से पकड़कर उठाया । ऐसा मैंने इसलिए किया कि ज़ैनू समझेगा कि आज फिर मुझे किसी अपराध में दंड दिया जा रहा है और इस सन्देह और शंका के बीच जब उसे पता चलेगा कि उसे कोट और बूट बख़शीश में दिये जा रहे हैं तो इस डर की अपेक्षा खुशी कितने भीषण रूप में सुन्दर होगी ।

मैंने ज़ैनू के कानों को अच्छी तरह से मरोड़ा । दर्द के मारे वह धीरे-से कराह उठा । पर उसने बिलकुल न पूछा कि वह दंड उसे क्यों दिया जा रहा है । कुछ देर के बाद मैंने उसे छोड़ दिया । वह अब काँप रहा था—सर्दी से नहीं, भय से, क्योंकि उसने कोई अपराध नहीं किया था....

मैंने कहा, "देखो बेटा, तेरे लिए कोट लाया हूँ ।"

क्षण भर में ज़ैनू का भय दूर हो गया । वह मेरे पास सरक आया

और खोखे की पेटी के सहारे खड़ा हो गया। मैं सम्हलकर बैठ गया। जैसे कोई फ़रिश्ता बैठते समय अपने पंख सँवारता है। अपनी आँखों में चमक पैदा करते हुए मैंने कहा, "वे बूट भी अब तुम्हारे हैं।"

ज़ैनू मुस्कराया। एकदम क्षीण-सी मुस्कान। उसने चेस्टर मुझसे ले लिया और उसी समय उसे कंधों पर डाल लिया और बोला—

"मैं जानता था! तुम मेरे लिए कोट लाओगे।....तुम मुझे बूट दे दोगे, यह भी जानता था।"

और इसके बाद वह कोट के बटन सावधानी से बन्द करते हुए अपनी चटाई पर जा लेटा। मुझे उसकी कृतघ्नता पर बड़ा क्रोध आया। मैंने मन में कहा—भविष्य में मैं ज़ैनू पर एक पैसा भी बरबाद न करूँगा। इससे लाभ ही क्या? उसने मुझे धन्यवाद तक न दिया। इसके बाद जब मैं खान के साथ चारपाई पर लेटा तो मुझे ग़ुस्से के कारण नींद न आयी। फिर धीरे-धीरे एक विचार रेंगता हुआ मेरे दिमाग़ में आया। क्या इसके बाद आभार-प्रदर्शन की आवश्यकता है? मानो कीड़े को गन्दगी से उठाने और डंक सहने की आवश्यकता थी। इसके बाद मुझे एक खास तरह के आनन्द का आभास मिला। जैसे कोई मुझे कोट और बूट का मोल चुका रहा हो।

एक दिन मेरा एक अनुवादक मित्र मेरे पास आया। मैंने उससे ज़ैनू की चर्चा की और विशेष रूप से ज़ैनू को कोट और बूट देने की घटना सुनायी। उसने मेरी भावनाओं को सराहा। मुझे किंचित प्रसन्नता हुई और मेरा रोम-रोम अनुभूति की तीव्रता से जाग उठा। मेरे मित्र ने बताया, कि ज़ैनू में चोरी के रुझान का कारण यह है कि बचपन ही से उसके हाथ में पैसा नहीं दिया गया, जिसे वह आज़ादी से खर्च कर सके। एक कोट या चेस्टर की जगह उसके हाथ में कुछ नगदी देना

अच्छा होगा। ऐसी नगदी जिसे वह अपनी इच्छानुसार खर्च कर सके।

इसके बाद वह मित्र चला गया और मैं आधी रात तक इस बात पर विचार करता रहा। अगली सुबह मैंने ज़ैनू को पास बुलाया और एक रुपया उसकी मुट्ठी में देते हुए कहा—"ज़ैनू बेटा!....लो, यह खर्च कर लेना। लेकिन ज़रा इहतियात से....जब खत्म हो जाये तो हैं तुम्हें और दूँगा।"

उस दिन मेरा चित्त बड़ा शान्त रहा। शाम को वह आया तो मैंने बातों-बातों में रुपये की चर्चा छेड़ दी। मैं जानना चाहता था कि ज़ैनू रुपया कितनी सावधानी से खर्च करता है। पर शाम से पहले-पहले ज़ैनू ने रुपया खत्म कर डाला था और दो रुपये की और माँग पेश कर दी थी। जब मैंने जेब में से दूसरा रुपया निकालने के लिए हाथ डाला तो मैं ठिठक गया। अगर इस हिसाब से रुपये खर्च होने लगे तो दीवाले की दरख्वास्त देनी पड़ेगी। मैं कुछ देर सोचता रहा। मानो विवेक डंके की चोट पर कह रहा था—

"अब कहो?"

पर मैंने विवेक को भावनाओं पर विजय न पाने दी। मैंने बड़े उत्साह से एक रुपया निकाला और कहा—"ज़ैनू....लो, एक रुपया और....बस मैं एक ही दे सकता हूँ। लेकिन यों काम न चलेगा, इहतियात से खर्च करना।"

इसके बाद जब मैं शाम को दफ़्तर से लौटा तो ज़ैनू पहले से मौजूद था। मेरे अन्दर दाखिल होते ही उसने रुपया मेरे सामने फेंक दिया।

"मुझे इसकी ज़रूरत नहीं।" वह बोला।

"क्यों ज़ैनू?" मैंने पूछा।

"जब तक पैसा मेरी जेब में रहता है," ज़ैनू बोला, "मुझे शान्ति नहीं मिलती, जैसे वह मेरी जेब से उछला पड़ता है। जब तक इसे खर्च न कर डालूँ, मुझे बहुत कोफ़्त होती है....।"

मैंने तीव्र असमंजस में रुपये को हाथों में थामे रखा और लैम्प के गिर्द चक्कर लगाने वाले एक पतिंगे को देखने लगा। अजीब बात थी। ज़ैनू में एक रुपया खर्च करने की भी योग्यता नहीं थी। एक रुपया जेब में डालकर उसे खयाल पैदा होता था कि वह स्वादिष्टतम मिठाइयाँ, सुन्दर साड़ियों में विभूषित औरतें और क्या कुछ नहीं खरीद सकता। मानो वह एक छोटा बर्तन है जिसमें अधिक चीज़ नहीं समा सकती। वह एक रुपया भी जेब में नहीं रख सकता और जब उसकी जेब खाली होगी तो वह चोरी करेगा। उस पर एक जड़ता छा चुकी थी।....पर क्या मुझसे भी अधिक भावुक कोई व्यक्ति होगा, जो उसे प्रतिदिन एक रुपया दे सके....भावनाएँ !....भावनाएँ, तो चोरी से भी अधिक जड़ता लाती हैं।

चोरी से ज़ैनू को रोकना व्यर्थ समझकर मैंने इस सम्बन्ध में उसे कुछ कहना-सुनना ही छोड़ दिया।

इसी शहर के मोहल्ले क़ाज़ी अब्दुलग़फ़्फ़ार में मेरी बहन रहती है। मेरे बहनोई डाक विभाग में एक अच्छे, गुज़ारे के लायक़ पद पर नियुक्त हैं। मेरी बहन के तीन बच्चे और दो मकान हैं। शहर में मेरे बहनोई का काफ़ी रुसूख़ है। कुछ दिनों से मैं शादी की ज़रूरत बड़ी शिद्दत से महसूस करने लगा था। अब मैं तीस बरस का हो चुका था। भारत के-से गर्म देश का निवासी था और कसरत से चाट खाने का आदी ! जवानी के आरम्भ में फूफी और मौसी के यहाँ से रिश्ते आये थे, पर मुझे उन लड़कियों से कुछ चिढ़ थी। वे दोनों लड़कियाँ

खूबसूरत और मूर्ख थीं। इसके बाद बहन कहने लगी—वक़्त गुज़र चुका है। और अब तो मेरे सिर में कहीं-कहीं सफ़ेद बाल दिखाई देने लगे थे। भारत की औसत उम्र से ज़्यादा का हो चुका था और यही क्या कम था कि ज़िन्दा था! लेकिन मैं एक औरत की शक्ल देखे बिना ही मर जाता तो क्या जन्नत के दरवाज़े मुझपर खुले रहते? मैंने फ़ैसला किया कि किसी मोतबर आदमी के द्वारा ब्याह के लिए कहलवा भेजूँ और जब बहन थोड़ा-सा भी आग्रह करे तो मान जाऊँ। आख़िर खाना बनाने के लिए भी तो एक औरत चाहिए। जैसे कि मैं सारे दिन मर्दाने में बैठा रहूँगा और बीवी रसोईघर में।

और दिल कह रहा था 'दारुल अमान' की जगह 'अलमंज़र' की ज़रूरत है। ज़ैनब ख़ाला की लड़की खूबसूरत है तो खूबसूरत सही, बेवक़ूफ़ है तो बेवक़ूफ़ सही, बावर्चिन तो अच्छी साबित होगी।

इस काम के लिए मैंने जिस मोतबर आदमी को ढूँढ़ा वह ज़ैनू के सिवा और कोई न था। ज़ैनू अर्से से मेरी बहन के घर से परिचित था। दिनों से एक दूसरे को भला-बुरा कहने का सिलसिला जारी था। मैंने ज़ैनू को राज़ी कर लिया कि वहाँ पहुँचकर मेरे लिए ज़मीन तैयार कर दे। मेरे ब्याह की बात छेड़े। बहन, जो मुद्दत से मेरा घर बसा देखने की इच्छुक है, मुझसे ख़ुद ही अनुरोध करेगी और फिर मैं ज़ैनब की बात छेड़ दूँगा।

एक शुभ साइत देखकर मैं और ज़ैनू बहन के घर पहुँचे। बहन पास आकर बैठी तो मैं जान-बूझकर बहाने से खिसक गया। वास्तव में बग़ल के दरवाज़े के पास खड़ा मैं सब कुछ सुनता रहा। ज़ैनू कह रहा था—

"इनकी शादी क्यों नहीं कर देतीं आपा?"

"माने भी।" आपा बोलीं।

"ज़ोर भी तो नहीं दिया आपने कभी।"

"ज़ोर की भी ख़ूब कही तुमने।" बहन शायद हाथ फैला कर बोली, "उस ढीठ आदमी ने फूफी और खाला के सामने मुझे मुँह दिखाने के क़ाबिल नहीं रखा। अब तो मैं उसे कभी नहीं कहने की।"

मैं तिलमिला कर रह गया। पर मेरा होनहार वकील कहने लगा—"बचपन था न आपा उस वक़्त तो....।"

बहन शायद एक चाय की प्याली उसके सामने रखती हुई बोली—"मैं तो कभी न कहूँगी। तुम मना लो उसे....।"

मैं उचित अवसर देखकर कमरे में चला गया और इधर-उधर तस्वीरों पर निगाहें डालते हुए बैठ गया। बहन चाय की प्याली की ओर इशारा करते हुए बोली—"पी लो एक प्याली।" और फिर बोली, "शादी के बारे में क्या ख़याल है तुम्हारा?"

यह ज़रूरी था कि बहन के सामने मैं झूठा-सच्चा इनकार करता। मैंने कानों को छूते हुए कहा—"शादी? तौबा! तौबा!! मैं इस राह में भटकना नहीं चाहता। मेरा मक़सद शादी से कहीं बुलन्द है।"

ज़ैनू ने आँख मारते हुए कहा, "और बावर्चिन?"

मैंने चिल्लाते हुए कहा, "बकवास बन्द करो, ज़ैनू के बच्चे, जहाँगीर रेस्तराँ में बुरा खाना मिलता है क्या?"

अब जो कुछ ज़ैनू ने कहा वह बयान से बाहर है। वह अपनी जगह से उठ बैठा और मुझसे माँगकर पहनी हुई पतलून के गेलिस को खींचते हुए बोला—"ऐसे बेढब इन्सान मुझे बिलकुल पसन्द नहीं। ख़ुद ही मुझे तैयार किया कि मैं जाकर शादी के लिए ज़मीन तैयार करूँ और अब मुझे ही शर्मिन्दा करना चाहते हो क्या?"

ज़ैनू जितना शर्मिन्दा हो सकता था, हो चुका था। अब मेरी बारी थी। पसीने की बूँदें इतनी सर्दी के बावजूद मेरे माथे पर झलक

आयीं। मैं बहन के सामने बराबर इनकार करता रहा। पर इससे क्या होता है ? मैं उसकी आँखों-से-आँखें न मिला सका। ज़्यादा-से-ज़्यादा मैंने यह किया कि नन्हें भान्जे को गोद में उठा लिया और बहनोई की तस्वीर की तरफ़ इशारा करते हुए बोला, "यह किसके अब्बा हैं ? तुम्हारे ? अरे थूकते हो ? ए यू ! कितने गन्दे हो तुम ?"

और फिर बहन की तरफ़ मुड़कर मैंने कहा, "यह भी कहता होगा, अच्छा मामूँ है मेरा। बिलकुल ख़ाली हाथ चला आया।"

और अपने भान्जे के गालों की चुटकी लेते हुए मैंने कहा—"अबकी बार मैं तुम्हारे लिए चेरी लाऊँगा। चेरी और टॉफ़ी....क्या तुमने कभी टाफ़ी भी खाई है ?....टॉफ़ी चेरी से भी ज़्यादा मीठी होती है।"

मेरी बहन मुस्कराती रही। उसके बाद हमने विदा ली। रास्ते में मेरी ज़ैनू से खूब ले-दे हुई। मैंने कहा—"तुम्हें 'दारुल अमान' में चलकर पीटूँगा साले।" मानो पीटने के लिए दारुल अमान से ज़्यादा मौज़ूँ और कौन सी जगह हो सकती है। मैं खिन्न-मन अपनी कोठरी में आया और अपनी बेंत की छड़ी तलाश करने लगा। वहाँ मेहदि-ए-इसलाम हमारा इन्तज़ार कर रहा था और वह बेंत की छड़ी उसके हाथ में थी। पता चला कि ज़ैनू ने मेहदी का फ़ाउन्टेनपेन चुराकर उसकी निब सर्राफ़ के हाथ बेच डाली है। यही चार-आठ आने लिये होंगे। स्वर्गीय क़लम का धड़ नाली में से मिला। बेचारे के सिर से नीला-नीला खून बह रहा था। ज़ैनू की क़मीज़ की जेब में स्याही का एक बड़ा सा धब्बा चोरी का गवाह था।

उस दिन मैंने दोनों बातों के लिए ज़ैनू को पीटा और कहा—"निकल जाओ सुअर के बच्चे....शोहदे, हरामज़ादे, निकल जाओ फ़ौरन यहाँ से।"

उसी समय मैंने ज़ैनू को सीढ़ियों में से धक्का दिया। वह चार सीढ़ियों पर से लुढ़कता हुआ, अंतिम सीढ़ी पर जाकर रुका। उसके मुँह से खून बहने लगा। ऐसा दिखता था, जैसे उसका कोई दाँत टूट गया हो। थोड़ी देर के बाद ज़ैनू उठा और पीछे की तरफ़ देखने लगा। जैसे उसे किसी बात पर यक़ीन न आता हो। जब वह कुछ दूर जाकर मेरी तरफ़ देखने के लिए रुका, तो इस डर से कि कहीं वह अपने सहज-ज्ञान से मुझ पर विजयी न हो जाये, मैंने दीवार के पास से एक ईंट उठाई और ज़ैनू की टाँग पर दे मारी। ज़ैनू की चीख रेस्तराँ तक सुनायी दी और वह बिलबिलाता हुआ बैठ गया। मैंने एक और ईंट फेंकी। ज़ैनू लँगड़ता हुआ उठा और उसी हालत में रेंगता हुआ धीरे-धीरे शाम के निर्मम, निर्जीव अँधेरे में कहीं ग़ायब हो गया।

उस सख्त सर्दी की रात में, जब झींगुर भी शाम ही से शोर मचाना छोड़ देते हैं, मैं अपने बिस्तर में लेटा उसकी नर्मी-गर्मी महसूस करता हुआ सोचता हूँ। मेरे सीने में दिल धड़कता है! मेरी कल्पना-शक्ति बड़ी-बड़ी ऊँचाइयों में उड़ने वाली है। जब वह रेल की लाइनों या नदी की गहराइयों को नापती है, तब यह दिल तेज़ी से धड़कने लगता है। जब शरीफ़ कातिब भूगोल की एक पाठ्य-पुस्तक की किताबत करता है तब मुझे वे शब्द दिखाई देते हैं—'ज़मीन अपनी धुरी के गिर्द घूमती है।' मैं सोचता हूँ, क्या अजब जो वह रुक जाय! और तब भूगोल की पुस्तक में मान-चित्र दिखायी देता है, तो मैं आश्चर्य से पूछता हूँ, ये किस ज़मीन की रेखाएँ हैं? ये हल्की-हल्की, पतली-पतली नदियाँ, जो नीले रंग में दिखाई गयी हैं, उनका प्राकृतिक रंग तो लाल है।

ये लेखक कितनी गम्भीरता के साथ समय, स्थान और सापेक्षता

के सम्बन्ध में बातें करते हैं। यद्यपि जानते हैं कि ये लोग तेज़ सर्दी में जम जायेंगे। और जब यह देखता हूँ कि हमारा एक आराध्य है जो सब कुछ देखता है, लेकिन मौन रहता है तो उस समय मुझ पर कुछ पागलपन-सा सवार हो जाता है। मैं 'दारुल अमान' के अन्दर बड़ी तेज़ी से इधर-उधर घूमता हूँ और कहता हूँ—मैं क्यों अभी तक फ़ैसला नहीं कर सका कि मुझे बावर्चिन की ज़्यादा ज़रूरत है या ज़ैनू की ?

खान की मशहदी लुंगी रात-दिन खूँटी पर लटकी रहती है और शरीफ़ की घड़ी सुबह-शाम तिपाई पर पड़ी टिक-टिक करती है। 'जहाँगीर रेस्तराँ' का बिल चुकाया जा चुका है। फ़ाउएटेन पेन के पैसे भी चुका दिये गये हैं, लेकिन अब भी मुझे ऐसा लगता है जैसे मुझे किसी का कुछ अदा करना है। लेकिन मेरा ऋणदाता कोई बड़ा बेपरवाह आदमी है, जिसे अपने पैसे की रत्ती भर भी चिन्ता नहीं।

भूले से अपना सूटकेस खोलता हूँ तो मुझे तुरन्त ही उसे बन्द कर देना होता है। उसके कोने में दो दाँत पड़े हैं और एक कोने में सफ़ेदे से लिखा है—ज़ैनुल आबिदीन—आबिदों की ज़ीनत ?

कल ही मैंने फ़्लेक्स का एक नया जूता खरीदा है। जब मैं इसे पहनता हूँ तो वह चीखता है, चिल्लाता है। भला इसे किस बात का रोना है ?....नये चमड़े का है न, और वह कमबख्त चेस्टर भी तो मेरे भारी जिस्म पर पूरा नहीं आता।

जब हम शाम को सूट पहन कर 'दारुल अमान' से निकलते हैं तो हम कितने अच्छे इन्सान दिखाई देते हैं। हम हँसते हैं, लेकिन सभ्यता की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। आखिर हमारे माता-पिता ने हमें शिक्षा दी है। हम मफ़लर को गले में और मोज़ों को पाँव में खूब खींचते हैं ताकि सर्दी लग जाने का भय न रहे और जब सड़क

पर जाती हुई कोई लड़की हमारी तरफ़ देखती है तब हम तुरन्त अपनी टाई की गाँठ को दुरुस्त करने लगते हैं।

कभी-कभी बातों-बातों में शरीफ़ वहीद को साला कह देता है। वहीद पूरे ज़ोर से एक चपत उसके मुँह पर जमा देता है और एक हफ़्ते तक वहीद मिस्त्री की हथौड़े पकड़ने वाली उँगलियों के निशान शरीफ़ के गालों पर दिखायी देते हैं और जब हम अपने इर्द-गिर्द ग़ौर से देखते हैं तो महसूस करते हैं, कोई किसी का बाप है न बेटा, बहनोई है न साला, मामूँ है न भानजा। मानो सब रिश्ते नाते टूट चुके हैं।

अल्लाह! सारी दुनिया शरीफ़ों की दुनिया में बदल चुकी है। मानो हम एक दारुलक़रार (शान्तिगृह) बल्कि उससे भी ऊपर एक खुल्दे-बरीं (स्वर्ग) में रहते हैं।

*

स्पर्श

यों लगता था जैसे कोई बात भीड़ के बहुत से आदमियों की समझ में न आ रही थी। उनके सामने रस्सी के घेरे में पत्थर के एक बड़े से चबूतरे पर एक मूर्ति बड़ी सी चादर में लिपटी हुई थी, जिसे वे बार-बार देखते, देख-देख कर आँखें झपकते, असन्तोष प्रकट करते हुए जमुहाइयाँ लेते और फिर देखकर अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार समझने का प्रयास करते।

ठंडी सड़क नित्य की तरह धूप में लेटी हुई थी। एक जगह दोनों ओर के पीपल, शीशम, करोटन चील और अमलतास के पेड़ सड़क पर झुके हुये थे और हेमन्त के कारण उनके पीले पत्तों में से सूरज की किरणें छन-छन कर सड़क के सुर्मयी-सियाह रंग में श्वेतकुष्ट के धब्बे बना रही थीं। आज सुबह से ही कोलतार, रेत और पत्थर अलग-अलग होकर नाचने लगे थे। मूर्ति के उद्घाटनोत्सव को देखने के लिए एक अच्छी-खासी भीड़ एकत्र हो गयी, जिसका एक भाग अधिक गतिशील हो उठा था।....वातावरण में 'हा-हा, हू हू-हू' की एक अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो गयी, जिसमें एक अस्पष्ट-सा आतंक भी सम्मिलित था और

एक संगीतमय ध्वनि भी। फिर पीपल 'क्लेप, क्लेप, क्लेप, क्लेप'—असंख्य तालियाँ एक साथ बजा रहे थे और सड़क का एक मात्र शीशम अपनी सैकड़ों सीटियों के साथ भीड़ के सुर में सुर मिला रहा था।.... भीड़ के बीच में से 'साँप आया साँप आया' की आवाज़ से आतिशबाज़ी का एक अनार छूटा और प्रकट भीड़ तितर-बितर हो गयी, लेकिन दायें-बायें से 'हाथी आया, हाथी आया' के अर्थहीन नारों से फिर लोग जमा हो गये।

चबूतरे के काले पत्थर पर सुनहरी अक्षरों में खुदा था।

सर जीवाराम

१८६२ से लेकर १९३१ तक

एक बड़ा दानी और मानव प्रेमी

भीड़ और शब्द एक दूसरे को लगातार घूर रहे थे।

"गुप्तदान किया करते थे सदा।" सेवा-समिति का एक स्वयं-सेवक अपने लाल स्कार्फ़ की गाँठ को ढीला करते हुए बोला, "बुड्ढे नाले के पार जो विधवा-आश्रम है ना, उसकी दरी उठाई गयी और उसके नीचे विधवाओं की सहायता के लिए पाँच सौ के नोट मिले।"

"चः....तो क्या हुआ?" भीड़ में से एक तुर्रेबाज़ टिबाना बोला, "बात यह थी कि दान बेढंगा था।" और किसी बाबू ने समर्थन करते हुए कहा, "इसमें औरतों की ट्रेफ़िकिंग ही ज़्यादा हुई और क्या हासिल हुआ।"...."लेकिन जनाब।" कोई बोला, "आपको उनकी नियत में कोई सन्देह नहीं हो सकता। यह तो प्रबन्धकों की हरमज़दगी होगी।" और एक ज्ञानी जी अपनी चंबल से भरी हुई गर्दन को खुजाते हुए बोले, "गीता में स्पष्ट लिखा है कि दानी को अपने दान का फल प्राप्त करने के लिए फिर जन्म धारण करना होता है।"

भीड़ का शोर अपेक्षाकृत बढ़ गया। यूनिवर्सिटी हाल और उसके विशाल बरामदे में विद्यार्थी रेखागणित के परचे कर रहे थे। 'त्रिभुज में दो रेखाओं की संयुक्त लम्बाई तीसरी रेखा की लम्बाई से अधिक होती है।' एक विद्यार्थी ने सोचा, और उसका जी चाहा कि वह सारा काग़ज़ फाड़, सियाही उँड़ेलकर सामने नाचती-गाती, हँसती-खेलती, चकित-विस्मित भीड़ में शामिल हो जाय। बड़े ज़ोर से चीखे और कहे, 'हमें इस रेखागणित का लाभ ही क्या है? शोर मचाओ हे देश-वासियो....और केवल शोर....और कान पड़ी आवाज़ सुनायी न दे।' सुपरिण्टेण्डेण्ट महोदय ने ज़ोर-ज़ोर से कुछ हाथ घंटी पर मारे। लेकिन घंटी की आवाज़ भी शोर में मिलकर रह गयी। वे बौखलाकर उठे और स्वयं बाहर आकर भीड़ को सम्बोधित करने लगे, "सज्जनो! आप लोगों को इस बात का ध्यान होना चाहिए....।"

दुबले-पतले, निरीह सुपरिण्टेण्डेण्ट का शेष भाषण एक अनन्त कोलाहल में खोकर रह गया। "खी खी खी" लोग हँसने लगे—"इस बात का ध्यान होना चाहिए। ध्यान लिए फिरता है....जा बैठे अपनी माँ के पास, नहीं तो ढूँढ़नी पड़ेगी अपनी ऐनक....अपनी रीढ़ की हड्डी....जा जा...." इसके बाद कारों की पों पों, फ़िटनों और रईसी ताँगों की टन-टन से वातावरण में और भी कोलाहल भर गया। एक सार्जेण्ट कहीं से प्रकट हुआ। उसने होंठों पर जीभ फेरी, हैट को ऊँचा किया और अपना बेटन तानकर भीड़ में इस तरह घूमने लगा जैसे कोई तेज़-सी छुरी खरबूज़े में फिर जाय।—"कारों को पार्क करो। ए यू इंडियन, दायीं तरफ़!" सिपाही बोला, "आपका नम्बर क्या है?" "पी पी ५६२" "और लाइसेन्स?"...."यह लाइसेन्स देखने का वक़्त है?"

"हो हो हो!"

"राजा साहब हैं कहाँ ?"

"अरे भाई खींच दो मूर्ति की रस्सी को खुद ही। आखिर इस तकल्लुफ़ में क्या धरा है ?"

"है न देसी समय....।"

"चः....एक....बड़ा....मानव प्रेमी !"

कुछ देहाती भाई 'फेरू' और उसके आस-पास से शहर का कोई मेला या अजायब-घर देखने चले आये थे। उनके हाथों में लकड़ी के लम्बे-लम्बे लट्ठ थे जिनके सिरों पर लकड़ी के 'चूहे' बँधे हुए थे। उनकी दुमों से गाँव में बँटी हुई सन की रस्सियाँ लटक रही थीं, जिन्हें वे खींचते तो लकड़ी के चूहे 'खड़प खड़प' का भद्दा, भोंडा, बेताल साज़ बजाते और देहाती गाते—

खट्टन गया ते खट्ट के लियाँदा झावाँ ★

"रास्ता छोड़ दो ! रास्ता छोड़ दो !"

भीड़ आप से आप फटने लगी और एक हीन-क्षीण काश्मीरी पंडित कैसर विलियम की-सी दाढ़ी छोड़े, दाँतों से अपना नाखून काटता हुआ चबूतरे की ओर बढ़ने लगा। उसके गले का सुनहरा सिरोपा उसके घुटनों में उलझ रहा था और वह बार-बार झुककर सिरोपा को घुटनों से अलग करता था कि कहीं आदर और सम्मान का यह निशान उसे झुका न दे।

यह राजा साहब थे, जिनके हाथों मूर्ति का उद्घाटन होने वाला था। जीवन के प्रत्येक अनुभव ने एक रेखा उनके चेहरे पर बना दी थी। कहीं-कहीं रेखाओं के उलझाव पड़े हुए थे, जिनमें नीली-नीली नसें उलझती-सुलझती एक बड़ी-सी गाँठ के रूप में कनपटी के निकट प्रकट हो गयी थीं। 'जब यह राजा, यह उद्धारक मरेगा तो इसकी मूर्ति

★कमाने गया और कमा के लाया झावाँ।

बड़ी सुन्दर बनेगी।'—किसी ने शिल्पी के दृष्टिकोण से जाँचा—'आज यह किसी की मूर्ति का उद्घाटन करता है, कल कोई इसकी मूर्ति का उद्घाटन करेगा।' मानो राजा महेन्द्र नाथ कोई बहुत बड़ा अपराध कर रहा है, किसी की बहू बेटी की ओर देखता है। भीड़ हमेशा भीड़ ही रहती है। उस समय देहाती अपने बेढंगे गीत की दूसरी पंक्ति गा रहे थे—

खट्टन गया ते खट्ट के लियाँदा भावाँ,
जाँदी वारी दूस्स न गया, मैं चिट्ठियाँ किदर नूँ पाँवाँ।

और चूहों की लगातार खड़प-खड़प भीड़ की बे-रब्त आवाज़ों में कुछ और की वृद्धि कर देती।

सेवा-समिति वालों ने लट्ठों को ताने हुए भीड़ के एक बड़े-से रेले को रोक दिया। राजा साहब ने अपने मुँह में कूज़ा मिश्री का एक टुकड़ा और इलायची डाली और गले को 'ऊँहूँ ऊँहूँ' की अनेक आवाज़ों से साफ़ करते हुए बोले, "सज्जनो! उन्नीसवीं सदी में एक चमत्कार हुआ, और वह था सर जीवाराम का जन्म।...."

लोग चमत्कार के बारे में सोचने लगे—आम लोगों की तरह जीवाराम भी पैदा हो गया।....हा! हा! क्या देवता आया था? कुछ लोगों के गालों पर सचमुच आँसू बह रहे थे। उनके मन में उदारता तथा मानव प्रेम की भावना कुछ ऐसी ठाठें मार रही थी कि वे धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि पत्नी भी दान में दे देने को तैयार थे।

सेवा-समिति के एक कार्यकर्त्ता ने दो बार आवरण की डोर राजा के हाथों में दी और दोनों बार वह फिसल गयी, जिसका मतलब था कि राजा की भी शीघ्र ही मूर्ति बन जायेगी! अन्त में राजा ने एक झटका दिया और मूर्ति बे-नक़ाब हो गयी।

लोगों ने तालियाँ बजायीं, फूल फेंके....बस यह बात थी! फिर वे

सोचने लगे--वे व्यर्थ ही दो घण्टे खड़े रहे। लेकिन मूर्ति सुन्दर थी, श्वेत। बिल्कुल रूई का एक बड़ा-सा गाला दिखती थी। इटली के किसी निपुण मूर्तिकार ने संगमर्मर को इतनी सफ़ाई से तराशा था कि चादर की एक-एक सिलवट स्पष्ट दिख रही थी। मूँछों के बल साफ़ दिखायी पड़ रहे थे। ये मूँछें स्वर्गीय अपनी ज़िन्दगी में थूक लगाकर बटा करता था।....फिर हाथ की नसें भी दिखायी पड़ रही थीं। यही लगता था जैसे हाथ अभी सजीव हो उठेगा, ऐसे ही, जैसे उद्घाटन करने वाले का हाथ निर्जीव हो जायेगा। मूर्ति और उद्घाटन-कर्त्ता में कोई भेद-भरा सम्बन्ध था। उन्हें एक दूसरे के प्रति कोई विशेष सहानुभूति लगती थी।

शोर और भी बढ़ गया। यूनीवर्सिटी के हाल का परीक्षक क्रोध के मारे मुँह में झाग ले आया। उसने एक हाथ से ऐनक को सम्हाला और दूसरा हाथ रीढ़ की हड्डी पर रखा और हलक़े के थाने को टेली-फ़ोन करने के लिए अपने अधीन एक दूसरे परीक्षक को अपने स्थान पर बैठा दिया।

अमलतास के पेड़ फलियों की पुतलियाँ नचा-नचाकर हँसने लगे। करोंटन-चील सड़क के साँवले रूप को चूमने की इच्छा में सायँ-सायँ करता हुआ झुक-झुक गया। उस समय सड़क के सामने एक बहुत बड़ा बादल आ जाने से सड़क का कोढ़ दूर हो चुका था। हल्की-हल्की गुदगुदी की तरह एक सुखद फुहार-सी पड़ने लगी। स्वर्गीय के सम्बन्धी देवताओं की प्रसन्नता के इस प्रदर्शन पर बड़े प्रसन्न हुए। आखिर भगवान को भी उनके पिता या पितामह की उदारता और मानव-प्रेम पसन्द था।

उद्घाटन के पश्चात् भी भीड़ की समझ में कुछ न आता था। लोग अभी तक आँखें झपक रहे थे। क्या बस यही मामला था? क्या वे सिर्फ़ इसी बात के लिए दो घण्टे खड़े रहे थे?....मूर्ति बर्फ़ के समान

श्वेत है, बर्फ़ की तरह जड़ !....लेकिन आखिर बात क्या हुई ?

"१८६२ से लेकर १६३१ तक—उँह ! क्या पता वह कभी पैदा ही न हुआ हो।"

"इसका मतलब हुआ न कि अड़सठ साल....।"

"न न....उनसठ....सन् बासठ तेरी माँ के पास चला गया ?"

"उल्लू का पट्ठा !"

"तू होगा।"

"तू।"

"तेरा बाप !"

इसके बाद न जाने क्या हुआ। एक तेज़ फ़िल्म की तरह कुछ दृश्य आँखों के सामने घूम गये। एक-दो पगड़ियाँ ज़मीन पर पड़ी थीं। या कभी-कभार कोई क्रिस्टी टोपी हवा में उछलती और अमलतास की पुतलियों को छूती हुई नीचे आ रहती। लड़ाई हुई और रुक गयी और फिर सब आश्चर्य से मूर्ति की ओर देखने लगे और उसे समझने का प्रयत्न करने लगे।

एक टुटपुँजिया अपनी आँखों पर हाथ फेरता हुआ आगे बढ़ा और आँख के थैलों को दबाकर मूर्ति की ओर देखने लगा। अभी तक सेवा-समिति के लोग अपने डंडे लिये खड़े थे। यद्यपि उनका उद्देश्य पूरा हो चुका था। खींचा-तानी में या तो उनके स्कार्फ़ बिलकुल खुल गये थे और या गले का फन्दा बन गये थे। दायीं जेब का चिड़िये के बादशाह-ऐसा ढकना फट रहा था, जिसमें से छाती का दायाँ निपल, जिस पर बेतहाशा बाल उग रहे थे, दिखायी देने लगा। सेनापति के मुँह में एक लम्बी-सी सीटी थी। धक्कम-पेल में औंधे मुँह गिरने से सीटी उसके हलक़ में चली गयी थी और दाँतों को सख्त चोट आ

गयी थी। आज सेनापति को पहली बार सेवा का मेवा प्राप्त हो रहा था। वह प्रसन्न था, यद्यपि रो रहा था।

एक अफ़्रीमची ने अपनी डिबिया निकाली। हथेली पर रखकर गोली को मला और कमेटी के नल से पानी का एक घूँट पीकर उसे निगल लिया। पानी की बूँदें अभी तक उसकी बेक़ाबू दाढ़ी में बह रही थीं। पानी पीकर वह मूर्ति के निकट आया और अपने साथी से पूछने लगा—"ओय बन्तासिंहाँ इह की लिक्खिया ऐ?" (अरे बन्तासिंह! यह क्या लिखा है?) बन्ता सिंह ने जवाब दिया—"लिखा है—एक बड़ा दानी और मानव प्रेमी।"...."उँह, बड़ा दानी।" अफ़्रीमची बोला।.... वास्तव में किसी को सर जीवाराम की उदारता पर विश्वास न होता था। भीड़ के उपचेतन में कोई बात थी। उसकी रूह की गहराइयों में कोई ऐसा भाव था, जिसके अन्तर्गत वे कह रहे थे—कोई उदारता नहीं....कोई मानव प्रेम नहीं....सब झूठ है, सरासर झूठ है....।

मूर्ति वाले की उदारता की अपेक्षा उन्हें सेवा-समिति वालों से अधिक घृणा थी, जो अभी तक डटकर खड़े थे। अफ़्रीमची, देहाती, बाबू, विद्यार्थी, सब का खयाल था कि समिति वाले अनन्त काल तक यहाँ से नहीं हटेंगे।

वे चाहते थे, ये लोग एकदम वहाँ से चले जायँ। उनकी उपस्थिति भीड़ में कुछ अजीब-सी घृणा और विद्रोह की भावना उत्पन्न कर रही थी। उनका जी चाहता था कि वे किसी को मार डालें, कुछ तोड़ें-फोड़ें, सड़क पर से गुज़रती हुई स्त्रियों से बलात्कार करें, कुछ नहीं तो छोटे बच्चे की तरह मुँह ही चिढ़ा दें। वे मुँह चिढ़ाने से डरते नहीं थे, यद्यपि उनके छिदरे-छिदरे दाँतों पर से एनेमल उड़ चुका था और वे एकदम काले पड़ गये थे। असावधानी और मांस-भक्षण ने उनके दाँतों को जबड़ों तक खोखला कर दिया था और वे जबड़ों से लगभग अलग

हो चुके थे। लोग बिना जाने-बूझे उन घृणित दाँतों का प्रदर्शन करके प्रसन्न हो रहे थे। वे यह नहीं जानते थे कि उनके दाँत जितने भद्दे होंगे, सेवा-समिति वालों का उतना ही अपमान होगा।

उनमें पतले लोग थे और मोटे भी। लेकिन उनके शरीर गँठे हुए और हृष्ट-पुष्ट थे। उन्हें स्वयं अपनी शक्ति का अनुभव न था और वे हमेशा उस शक्ति को जगा देने वाले की खोज में रहते थे। वे समिति वालों के पास खड़े रहे....और समिति वाले भी जैसे चिढ़-से गये थे। दर्शकों की समझ में यह बात भी न आती थी कि समिति वाले अब उद्घाटन के बाद भला क्यों खड़े हैं? ऐसे ही, जैसे अपने वहाँ खड़े होने का कारण भी उनकी समझ में नहीं आता था।

मोटरें, फ़िटनें और ताँगे—सब जा चुके थे। कहीं-कहीं बाबू लोग लम्बे-लम्बे डग भरते हुए दफ़्तरों को जा रहे थे। अधिकांश दस बजे पहुँच चुके थे और कुछ बेकार खड़े लोगों ने वहाँ खड़े रहने की अपेक्षा घर और काम पर चले जाना उचित समझा। वे कुछ दूर गये, लेकिन उन्हें ऐसा लगा मानो वे अपनी कोई चीज़ मूर्ति के पास भूल आये हों। इसके बाद उनके पाँव अपने-आप वापस मुड़ आये। उन्होंने अपने को मूर्ति के सामने पाया।

मूर्ति बिलकुल सूरज की किरणों में उलझे हुए एक बादल के समान दिख रही थी।

लेकिन....'उँह! विधवाओं को दान दिया होगा। औरतें निकाली होंगी पट्ठे ने।'....अभी तक इस क़िस्म की आवाज़ें आ रही थीं—'औरतों की ठीकेदारी बड़ी लाभप्रद चीज़ है।'....और सेवा-समिति वाले पूर्ववत अपने लट्ठ लिये खड़े थे।

इसी बीच अपने गले को खून से साफ़ करते हुए सेवा-समिति का सेनापति आ गया और चबूतरे के पास पहुँचकर अपने खद्दर के नेकर

को नम्रता की सीमा तक ऊँचा करने लगा। फिर एकाएक उसने स्वयं-सेवकों को एक पंक्ति में खड़े होने का आदेश दिया। और पंक्ति-बद्ध होने के बाद वे आदेशानुसार चलने लगे।

लोग प्रसन्न थे। उन्होंने स्वयंसेवकों के पीछे तालियाँ बजायीं। यह बेहतर अपमान था। भद्दे दाँत और जबड़े दिखायी नहीं देते थे। सेनापति ने रोषभरी दृष्टि से पीछे की ओर देखा, गले को सहलाया और चल दिया। लोगों ने पत्थरों की तरह के भारी ठहाके फेंककर स्वयंसेवकों को घायल कर दिया। सेवा का फल मेवा....

सब जानते थे क मूर्ति संगमर्मर की है, सफ़ेद है, सख्त है। लेकिन इतनी बात से उनकी तसल्ली नहीं होती थी। वे सात-आठ क़दम की दूरी पर खड़े होते, एक नज़र मूर्ति को देखते, फिर सब-के-सब उस तक पहुँचकर उसे अपने हाथों से छू देते।

"मैं अंग्रेजी नईं जानदा।" एक देहाती ने कहा।

"सर जीवा राम की मूर्ति है, जो १८६२ में पैदा हुआ और १९३१ में मर गया। वह एक बड़ा दानी और मानव-प्रेमी था।....और उन्नीसवीं शताब्दी का सबसे बड़ा चमत्कार....!"

अब भीड़ ने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिला दिया और एक बार फिर अपने हाथों की पहुँच तक मूर्ति का अनुभव किया। कुछ देर बाद मूर्ति के पाँव काले हो गये....लेकिन इसके बाद सब इतमीनान के साथ अपने-अपने काम पर चले गये।

जब मैं छोटा था

(एक अध्ययन)

उन दिनों हम जहाँगीराबाद में रहा करते थे। हम लोगों का वहाँ एक पुराना, लेकिन बहुत बड़ा मकान था, जिसे हम 'धराशक्ति' कहा करते थे। धरा की शक्ति हर जगह प्रायः एक-सी होती है। पर नगर की मिट्टी में हमें वह शक्ति नहीं मिलती जो 'धराशक्ति' में उपलब्ध थी। वहाँ का गुरुत्वाकर्षण कुछ और ही था।

प्रकृति की हरेक अच्छी वस्तु 'धराशक्ति के बिलकुल निकट मिल जाती थी। अभी करौंदे का ध्यान आया। बाहर आकर देखा तो बुआदित्ता अचारज, जो फल बेचने के अलावा मरनेवालों के अन्तिम संस्कार भी करता है, करौंदे और सिंघाड़े बेच रहा है। आड़ू या कमरख के बारे में सोचा तो वे बाहर मौजूद हैं। हो सकता है हमारी सोच कुछेक खट्टे-मीठे फलों या मामूली-से खिलौनों तक ही सीमित हो, फिर भी सब कुछ हम तक अपने आप खिंचा चला आता था।

हमारे घर के साथ ही एक छोटी-सी नदी बहती थी, जिसके दोनों किनारों पर एक बगिया थी। हमारी कहानियों के जिन्न, देव और परियाँ सब उस छोटी-सी बगिया में रहा करती थीं। हमारी निगाहें

सदा उस बगिया में उलझ जाती थीं और जिस तरह बच्चे घिरकर आते हुए बादलों में अपनी मनचाही आकृतियाँ देख लेते हैं, उसी तरह बगिया का हर पेड़, हर डाली, हर पत्ता हमारे हृदय की कहानी बन जाता था। जब हम बच्चे 'धराशक्ति' के खुले आँगन में कबड्डी, बाहर गटाल और शाह-श्टापो खेलते हुए थक जाते और जब मस्तिष्क हर बार नया खेल सोचते-सोचते ऊब जाता, तो हम नदी में नहाने चले जाते। यद्यपि वहाँ जाने की मनाही थी, पर सभी वर्जित काम कर देखना—जैसे सिलाई की मशीन की हत्थी को घुमाना, इश्क़े-पेचाँ को कैंची से काट डालना—हमारा सबसे प्रिय शग़ल था।

किसी ने कहा है, छै साल की उम्र में बच्चों के तन ख़ूराक से और मन अनुभव से बढ़ते हैं। लेकिन उनकी कल्पना, उनकी चेतना रहस्योद्घाटन से बढ़ती है। डाँट-डपट और उपदेश उनके लिए बिल-कुल निरर्थक होते हैं। उनकी चेतना के किसी कोने में भक् से उड़ जाने वाला एक भावुक पदार्थ होता है, जो साधारण स्पर्श-मात्र से उनकी कल्पना द्वारा नया रंग, या नयी सीमा या दोनों ही पा लेता है। उनकी आँखों में आँसुओं के सैलाब उमड़ आते हैं। उनके सपनों के रंग कुछ न मिटने वाली आकृतियों में बदल जाते हैं।

बावा लोगों के इस बड़े परिवार में सबसे छोटा मैं था। जब मैं छै बरस का था तो मेरे पिता (जिन्हें हम 'दारजी'—याने सरदारजी —कहा करते थे) की आयु पचास के लगभग होगी। उन्हें नज़ले की पुरानी शिकायत थी। वे कुछ गुनगुना कर बोलते थे। उनकी नाक आसानी से सुगन्ध या दुर्गन्ध में भेद न कर पाती थी। कभी-कभी उनकी बातों पर लोग मुँह फेरकर हँस देते थे! मैं हँसता भी था और अफ़सोस भी करता था। दिमाग़ में बू-बास के न

समाने पर उन्हें प्रायः खुद भी अपने-आप पर तरस आया करता था। यद्यपि वे शरीर से काफ़ी हृष्ट-पुष्ट थे, पर नज़ले के कारण उनके सिर और दाढ़ी के बाल बर्फ़-से सफ़ेद हो चुके थे। बैसाखी के आस-पास हमारे गाँव में किसी-न-किसी के यहाँ ज़रूर बच्चा पैदा हो जाया करता था और वे अपने बच्चे का नाम रखवाने के लिए हमारे 'दारजी' के पास आया करते थे। 'दारजी' बच्चे का नाम उमरदीन, खैरदीन, नानक चन्द, फ़ातमा इत्यादि रख दिया करते थे और सब लोगों को वह नाम स्वीकार होता था। यह नाम प्रायः बैसाखी के दिन रखा जाता था और मिठाई बाँटी जाती थी। बैसाखी की हवा, जो गेहूँ को उसकी बालियों से अलग करती है, उनकी नर्म, मुलायम और सफ़ेद दाढ़ी को दो गुच्छों में बाँटकर दोनों कन्धों पर फेंक देती थी ....और यह दृश्य हमारे मन में एक प्रकार की ठण्डक और पवित्रता पैदा करता था।

'दारजी' परिवार के सब बच्चों को इकट्ठा कर लिया करते थे और उनके शोर-गुल से बचने के लिए उन्हें कहानियाँ सुनाया करते थे। उनकी कहानी साधारणतः उनके जीवन की किसी विशेष घटना से सम्बन्ध रखा करती थी और उसमें सुधार का पहलू स्पष्ट होता था। कहानी प्रायः यों शुरू होती थी—

'जब मैं छोटा था तो....'

मेरे खयाल में अधिकांश माता-पिता और बुज़ुर्ग अपने बच्चों को कहानी सुनाते समय इस वाक्य से शुरू करते हैं—'जब मैं छोटा था, या छोटी थी....।' और फल-स्वरूप यही सिद्ध होता है कि हमारे बुज़ुर्ग बचपन से ही मज़बूत इरादे के मालिक थे, सच्चाई के पुतले थे, उन्होंने कभी शर्म-हया को हाथ से नहीं जाने दिया, कभी झूठ नहीं बोला और बड़ों के साथ कभी धृष्टता से पेश नहीं आये। उनके

सदाचार की बड़ाई उनके बचपने के प्रत्येक व्यवहार से प्रकट थी। ऐसी बातें सुनकर मेरा जी भी यही चाहता कि उनकी तरह मैं भी नेक बन जाऊँ।....यही मेरा उद्देश्य था। मुझे अपने पिता एक महान आत्मा दिखायी देते थे, या दूसरे शब्दों में वे एक महान शक्ति थे जिससे ज़िले का बड़े-से-बड़ा हाकिम भी इनकार नहीं कर सकता था। जहाँगीराबाद के सब आदमी उनके सामने आदर से सिर झुका देते थे और 'बड़े बाबा' के अतिरिक्त उन्हें और किसी उपाधि से याद न करते थे। मुझे बताया गया था कि वे मेरे ही पिता हैं। लेकिन वे इसी सत्कार योग्य बुज़ुर्गी के कारण क़स्बे के सब लोगों के पिता लगते थे। जैसे भगवान् सारी सृष्टि का पिता है।

जहाँ तक मुझे याद है मेरे पिता का व्यवहार सब के प्रति पितृत्व के स्नेह से भरा रहता था। कोई छोटा उनके निकट आता तो उनका दायाँ हाथ अनायास आशीर्वाद के लिए उठ जाता। यह कितना अन्याय था कि पितृत्व की इस भावना के कारण उन्होंने पहले जान-बूझकर और फिर स्वभावतः अपनी बहुत-सी स्वाभाविक प्रवृत्तियों और व्यक्तिगत भावनाओं और विचारों को कुचल दिया था।

उनके बचपन की एक कहानी हम सब बच्चों को बहुत भाती थी। हम बहुत से बच्चे हाथों में हाथ डालकर 'धराशक्ति' के खुले आँगन में बैठ जाते और अपने बुज़ुर्ग की एक ही कहानी—उनके जीवन की सबसे मनोरंजक घटना बार-बार दोहराते। यह बात बहुत ज़रूरी थी कि बालमुकुन्द कहानी कहे तो वैसे ही आँखें मटकाकर और चुटकी बजाकर और यदि शान्ति वही कहानी दोहराये तो वैसे ही आँखें मटकाकर और चुटकी बजाकर! मेरे पिता की कहानी हम सब बच्चों को स्कूल के पहाड़ों की भाँति कण्ठस्थ और बासी रोटी की तरह प्रिय थी। यदि मैं उस कहानी का एक शब्द भी बदल देता तो बाक़ी बच्चों

के निकट कोई बहुत बड़ा अपराध करता। उस समय मेरे चचेरे भाई, फुफेरे भाई, बहनें तुरन्त विरोध प्रकट करने के लिए उठ खड़ी होतीं। वह कहानी चूहों के सम्बन्ध में थी और एक तरह से हमारे परिवार में गीत का दर्जा पा चुकी थी।

कहानी इस प्रकार थी—

"जब बाबा (पिता जी) और चाचा देवा छोटे थे, तब उनके मन में चूहे पकड़ने का ख़याल आया। उस बड़े से दानव 'धराशक्ति' की जगह उन दिनों एक छोटा सा टूटा-फूटा मकान होता था, जिसमें चूहों के बड़े-बड़े बिल थे। चूहे हर रोज़ पनीर की टिकिया या बाबा की प्रिय बासी रोटियाँ उठाकर ले जाते। देवा चाचा ने एक पिंजरा लगाया। सब चूहे फँस गये। एक चूहा भागकर सुरंग में घुस गया। अब आप को यह जानना चाहिए—(बच्चे इस बात के न दोहराये जाने को कभी सहन न करते थे।) कि सुरंग एक बड़ा लम्बा चौड़ा बिल होता है, जिस में से होकर चूहे ज़खीरे और ज़खीरे से अपने घर में फिर लौट आते हैं।....बाबा ने एक पिंजरे को सुरंग के मुँह पर रखकर उसे शहतूत और करौंदे, तोरिये के गूदे और बये के घोंसले से ढक दिया। अगली सुबह देवा चाचा की हिम्मत न पड़ी कि वे पिंजरे तक चले जायें, इसलिए बाबा अकेले ही गये—अकेले।

(दोहराते हुए) "बाबा उस समय एक छो....टे-से बच्चे थे...."

"उन्होंने काँपते हुए हाथों से पिंजरे पर से पत्ते हटाये तो क्या देखते हैं, व....वहाँ एक चूहा था। भूरे रंग का, पूरे क़द का।

"मटकता हुआ और लटकता हुआ।"

"पटकता हुआ और भटकता हुआ।"

"बाबा इतने घबराये इतने घबराये कि जूतों-समेत दौड़ते हुए चौके में चले गये। (हमारे लिए कहानी का यह हिस्सा सबसे अधिक

सनसनी पैदा करने वाला था।)....जूतों-समेत दौड़ते हुए चौके में चले गये।"

"वे भागकर आये और देवा चाचा को आवाज़ दी—'देवा हो देवा, देवा हो!' और आवाज़ देते हुए वे दोनों हाथ अपने मुँह की दोनों ओर रख लेते ताकि आवाज़ इधर-उधर बिखरने न पाये, और सीधे देवा चाचा तक जा पहुँचे। फिर वे इतनी ज़ोर से चिल्लाते कि आवाज़ एक चीख में बदल जाती। फिर चीख खाँसी का रूप धारण कर लेती—खोंह-खोंह! खोंह-खोंह!! फिर बाबा और देवा चाचा मिल कर सुरंग तक चले गये। जूते पहने हुए! उनके हाथ में शहतूत के दो बड़े-बड़े मूगरे थे। बाबा ने चूहे को मार दिया, बिलकुल मार दिया और जहाँगीराबाद के चाण्डालों से चूहे की खाल खिंचवाकर उसे छत पर रख दिया। जब खाल सूख गयी तो फिर उन्होंने उसे फग्गू चाण्डाल के हाथ बेच दिया। फग्गू ने उसे किसी और के हाथ बेचा, उसने किसी और के....और एक आदमी ने उसकी फ़र बना दी। आजकल बड़ी भाभी के स्वेटर में वही फ़र लगी हुई है।"

अब मामला असह्य हो जाता। सब बच्चे 'झूठ,झूठ', 'बकवास, एकदम बकवास!!' का शोर मचा देते। "यह नहीं हो सकता, यह नहीं हो सकता कि मोटी जर्नैल भाभी के सुन्दर स्वेटर में एक ज़लील चूहे की फ़र लगी है।"

आपने देखा, इस घटना में सुधार का कोई पहलू नहीं है। दारजी के जीवन की यही एक घटना थी जिसमें उनकी दुर्बलता की झलक मिलती थी। वे स्वयं कितने डरपोक थे, यद्यपि हमें हमेशा बहादुर बनने का उपदेश देते थे। बच्चों के मानसिक विकास के लिए इस तरह की घटनाएँ तथाकथित साहित्य, शिष्टाचार औरदूसरी उपदेशों भरी कहानियों से अधिक प्रभावशाली होती थीं। उनसे हमें यथार्थ का पता

चलता था और हमारी समझ में आता था कि हमारे बुज़ुर्ग भी कभी बच्चे थे। नहीं तो दूसरी तरह की कहानियों में वे हमें बच्चे की जगह बूढ़े ही दीखते थे, जैसे वे नाभि तक पहुँचती हुई दाढ़ी बचपन से ही उनकी ठोड़ी पर मौजूद थी।

शरारत और अनभिज्ञता एक तरह की ज़िन्दगी है, जिससे बच्चे फलते-फूलते हैं। विधाता इन चीज़ों को बच्चों की प्रकृति में शामिल करके उन्हें परवान चढ़ाता है। हमने अपने विकास में देखा है कि बुद्धि, शिक्षा-दीक्षा शारीरिक और मानसिक प्रगति को रोक देती है। बच्चों को विवेक और ज्ञान की आवश्यकता है। लेकिन यह ज्ञान धीरे-धीरे, जैसे-जैसे ज़िन्दगी के भेद उन पर खुलते जायँ, उन्हें प्राप्त हो तो बेहतर, न कि झूठ-सच, तौर-बेतौर यह उन पर ठूँसा जाये! उनके जीवन में सिलाई की मशीन की हत्थी को घुमाना, अनुमति के बिना नदी में नहाना, इश्कपेचाँ को जड़ से काट देना, और इस तरह की सैकड़ों घटनाएँ पेश आती हैं, जिनके लिए उन्हें चेतावनी दी जाती है। उनकी प्रकृति को दबाया जाता है, लेकिन क्या वह दब जाती है? और अगर दब जाती है तो क्या उसे दबाकर वांछित फल प्राप्त होता है?

सर्दियों की एक सुबह को बालमुकुन्द ने एक घोड़े को थान पर से खोल दिया। बाबा उसे पकड़ने के लिए ऊबड़-खाबड़ खेतों में दौड़े उनकी दाढ़ी उड़ती थी, उनकी लाल नोकदार नाक से पानी बह रहा था। क्या ही अच्छा दृश्य था। और उससे एक दिन पहले हम सब आटे की चिड़ियाँ बनाने के अपराध में पिट चुके थे।

आखिर हमें शिष्टाचार सिखाने, हमारी आदतों को सँवारने के लिए हमारे बुज़ुर्गों ने हमारे लिए एक शिक्षक रख दिया, जो हमारे अतिरिक्त हर एक की इज़्ज़त करता था। हमारे शिक्षक ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक अनोखा तरीक़ा ईजाद कर लिया। हम

में सबसे अधिक आज्ञाकारी लड़के को 'बा-अदब, बा-तमीज़' का लाल निशान दे दिया जाता था। इस अनोखे तरीक़े से हम बड़े प्रभावित हुए। लेकिन वास्तव में इस उपाधि ने हमारी मनोवृत्ति को इस तरह ग़ुलाम बना दिया, जैसे ब्रिटिश सरकार हमारे किसी देशवासी को दीवान बहादुर या ख़ान बहादुर बनाकर उसके हाथ-पाँव को स्वतंत्र जीवन के लिए संघर्षरत होने से रोक देती थी।

इस तरह के सम्मान पाने वाले लड़के को हम बड़ी ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे और प्रायः शब्दों में से 'अदब' और 'तमीज़' के दोनों शब्द निकाल कर बकरी के बच्चे की तरह 'बा....बा' मिमियाने लगते। यद्यपि मैं इस बात को मानता हूँ कि हमारे इस प्रकार के व्यवहार में 'अंगूर खट्टे हैं' की भावना काम करती थी, यथार्थता और स्वतंत्रता का आत्मुक्य कम था।

वसन्त ऋतु ने धीरे-धीरे अपनी समानता छोड़ दी और उसकी सदाशयता में कटुता बढ़ने लगी। ये वो दिन थे जब शहतूत की कोंपलें पूरे तौर पर फूट निकलती हैं और उनमें फल पैदा होकर राह चलतों को ललचाते हैं और चिनार के चौड़े-चौड़े पत्ते अपनी घनी छाँव से माँ की गोद का-सा सुख देते हैं। लम्बी-लम्बी तुरइयों, उसके इर्द-गिर्द के फूल पत्तों में ज़िन्दगी क्लोरोफ़िल के रूप में दौड़ जाती है।

ऐसी ही एक शाम मेरे साथ एक दुर्घटना हुई। मुझे भी वह सम्मान दे दिया गया। उस समय मुझे अपने हमजोलियों का मिमियाना और मुझ पर एक तरह की ग़द्दारी का आरोप लगाना बहुत बुरा लगा। उसी वसन्त और गर्मी के बीच की ऋतु में एक दिन मैं 'धराशक्ति' की छत पर जा चढ़ा। वहाँ एक छज्जा था जिसके एक कोने पर खड़े होने से सामने का वनस्पतियों से ढका टीला और शोर मचाती हुई नदी का झाग पाँवों में कुलेलें करता दिखायी देता था। केवल सिर पर

लटकती हुई लम्बी-लम्बी तुरइयों और बये के घोंसलों को पीछे हटाना होता था।

छज्जे पर से मुझे वह कँटीला तार साफ़ दिखाई देता था जिसके बाहर 'बा-अदब, बा-तमीज़' लड़के नहीं जा सकते थे। वह सुर्मयी काँटों से भरपूर तार हरे रंग के खम्भों से लिपटता हुआ 'धराशक्ति' के बड़े फाटक तक पहुँचता था और उस पर नन्हीं-नन्हीं, काली झाँपलें अपना भार ठीक करती हुई साफ़ दिखायी देती थीं। वे हरे-से खम्भे दूर से बड़ी सुन्दर वर्दी पहिने हुए सिपाही-ऐसे दीखते थे और वह तार हमारी नैतिक क्वारेंटीन था। हमारे बुज़ुर्ग न जानते थे कि वे तार हमारी सीमा नहीं हो सकते थे। इंसान बिना तार के, बिना किसी सीमा के बन्दी और सुरक्षित रह सकता है।....ज़रूरत है आज़ादी की....

मेरे देखते-देखते मेरे सारे हमजोली आये और कपड़े उतार-कर पानी में उतर गये—नंगे-धड़ंगे! कैसी आज़ादी थी, जिसमें सोचने का भी अवकाश नहीं था। थोड़ा-सा विचार, साधारण-सी सोच भी एक विनाशकारी सभ्यता बन सकती थी।....बालमुकुन्द ने लकड़ी के एक बड़े से लट्ठे को पानी में ढकेल दिया और स्वयं उस पर मुँह के बल लेट गया। उसके हाथ और पाँव चप्पू का काम करने लगे। मेरी कल्पना रंग ले आयी। किनारे पर शान्ति और सोमाँ मिट्टी और धूल में खेल रही थीं। उन्हें मिट्टी के साथ खेलने से मना किया जाता था, पर वे मिट्टी के साथ अपने सम्बन्ध को समझती थीं। उस सम्बन्ध को जो माँ-बाप, भाई-बहन के सम्बन्ध से अधिक घनिष्ट था—कहीं अधिक घनिष्ट और अटूट!

उसी दिन उन सबके बिना आज्ञा लिये नदी में नहाने और धूल से खेलने की बात मैंने बाबा से कह सुनायी। लड़कियाँ और लड़के फिर पिट गये।

मानव प्रकृति कितनी स्वतंत्रता चाहती है—राष्ट्रीय स्वतंत्रता शारीरिक और व्यक्तिगत स्वतंत्रता, मानसिक स्वतंत्रता....इसका अनुमान कोई शिष्ट ग़ुलाम नहीं लगा सकता। मनुष्य तो चाहता है कि उसे रोटी कपड़े के झंझट से भी मुक्त कर दिया जाये।

'धराशक्ति' ने मुझे मेधावी और शिष्ट बना दिया। मेरे बुज़ुर्ग बड़े प्रसन्न थे कि मैं दूसरे बच्चों की तरह धृष्ट नहीं था। लेकिन ....मुझे पेट की शिकायत रहती थी। जो बच्चे जानवरों की तरह चरते रहते तन्दुरुस्त थे। लेकिन मैं, जो खाने में बड़ी सावधानी से काम लेता, हमेशा बीमार रहता। डाक्टर कहता था—निन्दी को एनीमिया है।

दीवानखाने में सन्दल की सन्दूक़ची के पास एक क़लमदान रखा था। उस पर चन्द पैसे पड़े थे। मैं एक लैम्प जलाकर उसके मन्द-मन्द प्रकाश में पुस्तक पढ़ रहा था। लेकिन मेरा हृदय, मेरे श्रवण शहतूत और चिनार के पत्तों से होती हुई हवा की सीटी की ओर आकृष्ट थे। मेरा मुँह बड़े-बड़े और लम्बे शहतूतों का स्वाद ले रहा था और मेरे हाथ-पाँव एक स्वप्निल जल के भीतर चप्पुओं की भाँति डोल रहे थे। मैंने खिड़की में खड़े होकर एक तुरई और बये के घोंसले को परे हटा दिया। मुझे अनुभव हुआ कि पृथ्वी और आकाश के विस्तार से भी मनुष्य का एक सम्बन्ध है।

'धराशक्ति' के बाहर बुआदित्ता अचारज पूर्ववत करौंदे और सिंघाड़े बेच रहा था। मैंने मेज़ के निकट खड़े होकर घृणा से अपने शरीर पर लगे हुए लाल चिह्न को देखा। फिर काँपते हुए हाथों से मैंने क़लमदान की ओर हाथ बढ़ाया और वहाँ से पैसे उठा लिये और लाल निशान को फाड़कर खिड़की के बाहर फेंक दिया।

अब मैं क्वारेंटीन से बाहर था। वे हरे मौन सिपाही मुझे देखकर

मुस्कराते थे, मेरे साहस की प्रशंसा करते थे, मेरा हृदय अनन्त आकाश की भाँति खिल रहा था।

शाम को मुझे ज्वर हो आया। मेरा मन और मेरा शरीर प्रकृति की उदारता का लाभ उठाने के योग्य न रहा था। फिर मेरी आत्मा मुझे बराबर धिक्कारती रही। मेरी नाड़ी की गति तीव्र हो गयी। शाम को बाबा आये। उनका चेहरा मुझे टेढ़ा-मेढ़ा लग रहा था। फिर रंग-बिरंगे बिन्दु फैलने लगे। पर उन बिन्दुओं और जलते हुए वृत्तों के बीच मुझे बाबा की दूधिया सफ़ेद दाढ़ी पूर्ववत ठंडक पहुँचाती रही। मैंने बाबा को बताया कि अम्माँ ने मुझे चोरी के अभियोग में बहुत पीटा है, यद्यपि मैंने चोरी नहीं की। सहसा मुझे याद आया कि बाबा ने भी अपने जीवन में एक चोरी की थी। लेकिन उन्होंने दादी अम्माँ के सामने उस चोरी को स्वीकार कर लिया था। और उस दिन अम्माँ जब पैसों के लिए पूछती रहीं तो मैंने साफ़ कह दिया कि मैं नहीं जानता। उस समय मुझे बार-बार यही खयाल आता—काश मैं अपने बाबा की तरह उदार होता और अपना अपराध स्वीकार कर लेता।

अचानक कुछ अजीब से दर्द ने मेरे शरीर और मन को घेर लिया। कुछ देर बाद मुझे लगा जैसे ममता भरा कोई हाथ मेरे सिर की सारी गर्मी को खींच रहा है। मैंने हौले-हौले आँखें खोलीं और बाबा की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा—"बाबा! आप कहानी सुनायें।"

"कौन-सी कहानी....मेरे बेटे?"

"जब आप छोटे थे....आपने एक बार चोरी की....आप ने दादी के सामने उस बात को मान लिया। तब आप बहुत छोटे से थे न?"

बाबा मेरी माँ को आवाज़ देते हुए बोले—"सीता! इधर लाना एक पानी का गिलास....तुमने निन्दी को क्यों पीटा है? मैं जानता हूँ, वह क्यों बीमार है....लाओ पानी, लाओगी भी?"

पानी का गिलास लेकर एक घूँट नीचे उतारते हुए बाबा बोले—"हाँ निन्दी ! मैंने यह कहानी तुम्हें सुनायी थी। मैंने चोरी की थी और माँ के सामने उस चोरी को मान लिया था।" इसके बाद बाबा ने अपराधी की तरह मौन धारण कर लिया। उस समय जब कि वही ममता भरा हाथ मेरी सारी पीड़ा को अपनी ओर खींच रहा था, उनकी आँखें भीग गयीं और उन्होंने अपना मुँह मेरे कान के पास लाते हुए कहा—"सच यह है....मैंने चोरी की थी....जब मैं छोटा था। और सुनो निन्दी, मेरे बेटे, उठकर खेलो....मैंने आज तक तुम्हारी दादी के सामने उस चोरी को स्वीकार नहीं किया।"

शीतला के दाग़

अब वह ऐसी जगह खड़ा था, जहाँ किसी की आलोचनात्मक दृष्टि नहीं पहुँचती थी।

लोहे के बड़े कीलों वाले, बुलन्दशहरी फाटक के पीछे, जहाँ ढोर-डंगरों का सारा गोबर बिखरा पड़ा था और उसकी दुर्गन्ध माघ की धुंध की तरह धरती पर छायी हुई थी, जहाँ उसकी बहन एक बर्तन में गली की किसी प्रसूता के लिए गो-मूत्र ले रही थी....लेकिन सुखिया ने तो उनका मुँह बहली ही में देख लिया था। उस पर शीतला के बड़े-बड़े और गहरे दाग़ थे, जैसे उसके मायके 'मातिनहील' की मोटी रेत पर वर्षा की बड़ी-बड़ी बूँदें पड़ी हों।

इस नये घर का रहन-सहन कितना पुराना था, और वैसे भी कुछ सुघड़ हाथों का मोहताज।....दीवारों में रणजीतशाही छोटी ईंटें, बूढ़े काका के दाँतों की तरह, अपने मरे हुए जबड़ों में अलग-अलग और बाहर उभरी हुई थीं। दीवारों की टीप—सन, माश और चूना—वर्षों पहले उड़ चुका था। एक दीवार पर मिट्टी और भूसा मिलाकर लेप किया गया था। फिर उस पर चूना फेरकर, गेरुए रंग से, बड़े-बड़े

और भोंडे नागरी अक्षर लिख दिये गये थे। भण्डारे के समीप हंडिया पर मेहरिया बैठी एक बेतुका और बेसुरा गाना गा रही थी—

अपजस की मत बाँधो गठरिया....

बेचारी मेहरिया ! वह उन पापों पर लज्जित हो रही थी, जो उसने कभी नहीं किये थे, जो वह करने के योग्य ही न थी। या शायद वह यह गाना इसलिए गा रही थी कि छोटे लाला के विवाह पर उसे बहुत थोड़ा नेग मिला था।

"अरे ओ लाला ! तू क्यों खड़ा हो रिआ है गोबर माँ ?"

घर की अम्माँ ने आवाज़ दी। उस समय बड़ा लाला नारियल का दम लगाये हुए आँगन में खड़ा अम्माँ पर हँस रहा था।...."अब राम-नाम के बाद मैया ने कुल्ली कर दी। भला क्या लाभ इस पूजा-पाठ से ? राम-नाम ही कुल्ली कर दिया। वाह री अम्माँ !"

"चुप रे।" घर की अम्माँ ने एक भोंडी मुस्कराहट से कहा और फिर पूजा की अंतिम क़िस्त पूरी करने के लिए बुढ़िया ने पीतल की टूटी सी लुटिया उठायी और आँगन में खड़े स्तब्ध ब्राह्मण—पीपल—के सर्दी में ठिठुरते हुए पाँव पर हिम-सा शीतल जल गिरा दिया। पीपल काँप उठा। शायद यह पुरवा का झोंका था। फिर पेड़ के घेरे में मंगल-सूत्र का लाल और पीला धागा लपेट दिया। बड़े लाला का छोटा लाला बड़ा नटखट था। उसे छोटे-बड़े, गली-मुहल्ले के सब लोग 'साहब' कहते थे। घर के सब लोगों के विरोध करने के बावजूद उसने एक बीसिया पिल्ला पाल लिया था और बाप-दादा का जन्म भ्रष्ट कर दिया था। साहब उठा तो पिल्ला भी साथ ही उठा। उठते ही पिल्ले ने अंगड़ाई ली, मुँह खोला, जीभ मिचकाई, धुआँ-सा उड़ाय और आँगन के पीपल के चरणों में पहुँच, एक टाँग उठा, अपने विशिष्ठ ढंग से पूजा कर डाली।

सुखिया के सिर में रात के सौ मील के चक्कर बाक़ी थे। लारी की 'घों-घों,' 'भर्र-भर्र' अभी तक उसके कानों में गूँज रही थी और उसे चक्कर आ रहे थे। बड़ी ननद ने चीनी की एक प्लेट में नींबू का अचार ला रखा था। 'छीः-छीः !' सुखिया ने नाक-भौं चढ़ायी। ये लोग चीनी के बर्तन इस्तेमाल करें। इन्हीं जूठे बर्तनों में खाना खायें, म्लेच्छ मुसलमानों की तरह—छीः ! छीः ! "बहन ! जा तो जरा।" सुखिया ने पास खड़ी 'उनकी' भानजी से कहा—'कोई मुरादाबादी कटोरा नहीं तुम्हारे हियाँ ? उसमें तो ले आ थोड़ी-सी चाट। मतली रुक जाये जरा। मैं चीनी-वीनी के बर्तन में ना खाती।" और दुल्हन नाक चढ़ा उबकाइयाँ लेने लगी। बड़ी ननद मन में बड़ी प्रसन्न हुई। 'अम्माँ तो बूढ़ी हो गयी। वह तो जूठे और सुच्चे बर्तनों में अंतर क्या देखेगी। लेकिन यह अब—इस नैया का खेवैया आ गया घर माँ !'

ननद ने स्वयं ही प्लेट उठायी और टल गयी। बुलन्दशहरी फाटक की ओट में खड़े 'वे' सुखिया को साफ़ दीख रहे थे। अंग्रेज़ी ढंग के बाल कटा रखे थे। ननद कह रही थी—"नखलऊ से बी० ए० पास किया जयराम ने। घर से परे सहर में कुँआरों के मकान (बोर्डिंग) में रहते थे। जनेऊ भी ना पहिनते, सिर पर चोटी भी ना रखते।"

सुखिया ने मन में कहा—'यह म्लेच्छ विद्या है ना....यह रंगरेजी (अंग्रेज़ी) और फिर इन शीतला के दागों का क्या होगा ? जब यह भयानक मुँह निकट आवेगा तब चित्त बहुत घबरावेगा और कोई नींबू का आचार काम नहीं आवेगा। सब सो रहे होंगे। सब कुछ मुझे अकेले ही भुगतना होगा। क्या देखा इन लोगों का चाचा ने ? मुझे घोर नरक में ढकेल दिया ! और पलँग पर पड़ी सुखिया सिर घुटनों में दबाकर रोने लगी।

मुहल्ला हज़ारी की स्त्रियाँ अभी तक दुल्हन का खरा-खोटा परखने आ रही थीं। दुल्हन खरी थी। पाँसे का सोना, जिस धरम-काँटे में कहो, तुल जाय। उसे मुँह बिसूरे देखकर आप भी मुँह बिसूरने लगीं। 'सच है, माँ-बाप बड़ी दौलत हैं। कैसे छूट जायें एक दिन में?' एक दूसरी स्त्री बोली, 'जब मेरी शादी हुई थी तो....।' इसके बाद वह स्त्री सुखिया से भी ऊँची सिसकियाँ लेने लगी। सुखिया चकित थी। उसने उस समय तो माता-पिता को याद नहीं किया था और इस अधेड़ स्त्री का निचला होंठ ऊँट के होंठ की तरह लटक गया। थोड़ी देर बाद उस अधेड़ को स्वयं ही 'ब्याह-सादी' के घर रोने का असगुन महसूस होने लगा। अपने दुपट्टे से उसने आँखों की बहिया पोंछ ली। 'जगत की यही रीत चली आयी है बिट्टो! तू सुख यहाँ का माँग! तुम्हारे काका तो गऊ रूप हैं। और जयराम तो बेटियों-जैसा बेटा है। जबान कहाँ है मुँह में? रात को रात कहे, दिन को दिन—नाचेगा तेरे इसारे!'

"आज बड़ा सुभ दिन है," घर की अम्माँ बोली, "गली में जो अमृतो है न, उसके यहाँ बाला हुआ। तेरह दिन हुए, पंजाबियों के घर लड़का हुआ। तभी वह आज गो-मूत्र नहलावे के लिए ले गयी। यह फसिल बेटों की है। बेटों की बहार है और सादियों की। इधर बेटा हुआ, उधर सादी हुई। अरी, समुदरी की माँ! कहाँ रहा तेरा साहब? बड़ी बहू घर आयी तो मैने तेरा साहब गोदी डाला था। ऊपर तले तीन बेटे हुए। मँझली की गोदी में बैठाया तो ठीक पहले साल लाला और दूसरे साल बिट्टो, लेकिन बिट्टो का बुरी है। लाला से भी ज्यादा मोहवे। गोद हरी चहिए। और काँ है वह? मैं उसे दुल्हन की गोद में बैठाऊँ हूँ।"

सुखिया गठरी हो गयी। बेटा और शीतला के दाग़!

गूजर ढोर खोलने के लिए आ गया था और फिर एक कमीन लंगर-लँगोटा कसे आँगन को साफ़ कर रहा था। धुंध शर्माये हुए सूरज की किरणों में घुल-मिल रही थी और दुर्गन्ध को कमीन के तेज ने समेट लिया था। धुंध का घूँघट उठते ही सुबह का चाँद-सा मुखड़ा दिखने लगा। क़स्बे के हिजड़े, बटकर, पंजाबियों के यहाँ से इधर गाने-बजाने चले आये। उस समय अमृतो के यहाँ जमादारनी सरस बाँध रही थी। सुखिया सभी कुछ देखती थी, लेकिन उसे सब कुछ काटने को दौड़ता था।

आँगन के धोये जाने से 'ये' हिले और पिल्ले को चुमकारते हुए बड़े भैया के पास चले आये। लेकिन यहाँ भी यही दिखायी देता था जैसे छिप रहे हैं और अपना शीतला के दाग़ों से भरा हुआ चेहरा स्वयं ही दिखाने से हिचकिचाते हैं। सुखिया के मन में कुछ दया-सी उत्पन्न हो आयी। 'राम किसी को कुरूप भी न बनावें। अपने-आप से लज्जा आती है। मानती हूँ, इसमें उनका कोई दोस नहीं। पर मेरा क्या दोस है? मेरी सकल से तो औरतें जलती थीं, और इनकी सकल से तो भूत भी ना जलें।'

बड़ी ननद मुरादाबादी बर्तन में अचार ले आयी। सुखिया ने अपनी पतली-पतली उँगलियाँ कश्मीरी फ़र्द से बाहर निकालीं और अचार की तरफ़ बढ़ायीं। ननद ने भाभी की उँगलियाँ देखीं और फिर अपनी गोभी के डंठल की-सी उँगलियाँ, और बोली, "जयराम ने तो कोई मोती दान किये हैं पिछले जन्म में। सरसों की नाल की-सी कोमल और लम्बी उँगलियाँ हैं। सच बता सुखिया भाभी। कौन से साँचे में ढली थीं तुम?"

इतना प्रेम! सुखिया सोचने लगी—'ये रिश्ते ही कुछ ऐसे होते हैं। आप-ही-आप इतना प्यार हो जाता है। उनकी खातिर सब कुछ

अच्छा लगने लगता है। उनके लिए सास, ससुर, जेठानी, देवरानी, ननद, ननदोई, सभी की सहनी पड़ती है। लेकिन जब वही ऐसी सकल के हों तो किस की सहेगा आदमी ?....अफीम का गोला खा, सो रहे।'

"तू बर्तन बटायेगी ?" ननद ने पूछा।

सुखिया चुप रही। वह इस रस्म को अदा करने से शर्माती थी।

ननद ने सुखिया की ठोड़ी के नीचे हाथ रखा और मुँह को ऊपर उठा दिया। आँखें बन्द थीं, जैसे बहुत रस आ रहा हो। होंठ सीप की तरह मिले हुए थे। ऊपर के होंठ की कमान कितनी अच्छी दिखायी देती थी।

ननद ने कहा, "अच्छी ! एक बात बता ?"

सुखिया ने प्रश्न के रूप में आँखें खोल दीं। ननद ने इधर-इधर देखा। सब स्त्रियाँ अपने-अपने काम में व्यस्त थीं, "क्या जयराम ने तुझे देखा है ?" वह बोली।

सुखिया का जी चाहा कि वह पूछे, कौन जयराम ? और फिर बड़ा मज़ा रहे। लेकिन उसने मुँह परे हटा लिया और गठरी होने लगी। ननद एक देहातिन थी और अधिक शक्तिशाली। उसने दुल्हन को सिकुड़ने न दिया और फिर अपना सवाल दोहरा दिया। सुखिया ने जान छुड़ाने के लिए 'हाँ' में सिर हिला दिया।

उसी विवाह के सम्बन्ध में किसी रस्म की तैयारियाँ हो रही थीं। शायद वही बर्तन बाँटने थे। परात में दूध और पानी मिलाकर कुछ रुपये भी रख दिये गये थे। काका हलवान की गुथली ले आये थे। उसमें रुपये-ही-रुपये थे ताकि सुखिया एक मुट्ठी में जी भरकर रुपये निकाल ले। ननद ने बताया, बहू का हाथ बहुत कोमल है। काका मन-ही-मन प्रसन्न हुए। एक हाथ में बहू अधिक-से-अधिक साठ रुपये

निकाल लेगी। काका के निकट ननदोई खड़ा था। वह घर का दामाद था, छोटा ननदोई, उसका प्रतिद्विन्द्वी नहीं आया था। उस ननदोई ने सिर पर मलमल का पूरा एक थान लपेटा हुआ था। नीचे लम्बा कोट, वह भी लट्ठे का और कमर में आधी धोती ने उसे बहुत हास्यास्पद बना दिया था। घर का दामाद होने के कारण उसकी बहुत पूछ होती थी, नहीं तो वह तुरन्त बिगड़ जाता और उस 'मोतबर' आदमी के बिगड़ने से सभी डरते थे। एक जयराम उससे नहीं डरता था। उसे ननदोई के अस्तित्व से शर्म आती थी।

सब अपने-अपने काम में लगे हुए थे। सुखिया के कमरे की खिड़की से दूर, ज़मीन का ऊँच-नीच, कुमारी की अनढकी छातियों की तरह दिखता था। उन टीलों के निकट किसी खेत की हरियाली सरकी हुई अंगिया-सी बन गयी थी। धरती अपनी नग्नता को छिपाने के लिए धुंध की चादर लपेटती थी, लेकिन सूरज उसकी सारी चादर खींच लेता था। आखिर धरती विवश होकर पड़ रही....'वे' अब और निकट आ गये थे और सुखिया उन्हें भली-भाँति देख सकती थी। वह दो मिनट के लगभग एकटक जयराम को देखती रही। जयराम की एक और आदत भी थी। वह पल-दो-पल के बाद सिर को एक झटका-सा देता था, जैसे कह रहा हो—'इधर आ जाओ।' शायद इसी लिए जयराम स्त्रियों के निकट नहीं जाता था। दो मिनट देखने से सुखिया की नज़रों में शीतला के दाग़ मानो धुल गये और जयराम का चेहरा बे-ऐब दिखायी देने लगा। सुखिया सोचने लगी—जिस तरह दो पल देखते रहने से वह चेहरा साफ़ दिखायी देने लगा है, सारी उम्र साथ रहने से शायद वही चेहरा इतना परिचित हो जाय कि शीतला के दाग़ देखते हुए भी न दिखायी पड़ें।

धीरे-धीरे दोपहर हुई। दिन ढलने लगा। सुखिया ने काका की

गुथली में हाथ डाला। अपने हाथ को पूरा फैलाया और अस्सी-पचासी के लगभग रुपये निकाल लिये। सब स्त्रियाँ हँसने लगीं। "बहू बड़ी चालाक है। ए काका। सम्हाल कर रखियो अपनी गुथली को। बड़ी खर्चीली बहू आयी है।" दूसरी बोली, "इतना कमाया है काका ने दूध से। सात पीढ़ी तक काफी है। और काका क्या धन को साथ में ले जायेगा?"

घर की अम्माँ अपने काका को बचाने के लिए निकल आयी। "मेरा जयराम क्या कम कमावे है। तीन बीस से ऊपर एक पावे है रेलवई माँ। दो जीव हैं। कोई बोझ-बाझ नहीं। खावें, मौज उड़ावें।"

अच्छा हुआ, सुखिया को भी 'उनकी' आमदनी का अनुमान हो गया। तनख़ाह तो इतनी बुरी नहीं थी। आजकल कहाँ इकसठ रुपये मिलते हैं? उन्होंने चौदह क्लास पढ़े हैं तो कौन सी बड़ी बात की है। सुखिया के चचेरे भाई ने सोलह क्लास पढ़े थे। ऊपर से कानून, और सूबे का कोना-कोना छान मारा। अंत में एक ठग कम्पनी में नौकर हो गया!....इसके बाद बर्तन बाँटने थे। लेकिन जयराम न आये। शायद उन्हें सुखिया की घृणा का पता चल गया था और वह अकेले में अपनी आकृति को कोस रहे थे। मेहरिया अपनी ही गजल गा रही थी। सुखिया ने कहा—अपजस की मत....। और जयराम को ऐसा लगता था मानो यह गाना उसी के अनुरूप है। जो भी सुनता था, मेहरिया को यह गाना गाने से रोकना चाहता था, लेकिन रोकने से पहले प्रत्येक स्त्री-पुरुष को उसमें अपनी ही ज़िन्दगी दिखती थी और वे मेहरिया को डाँटते-डाँटते आप ही उसके रस में डूब जाते।

सुखिया ने जयराम को कल्पना में अपने निकट आते देखा। उस समय सुखिया को कमर से नीचे सारा शरीर जलता हुआ महसूस होने लगा। या फिर कानों की लवें भड़क रही थीं। यह अग्नि इतनी

भीषण थी कि उसमें शीतला के सब दाग़ भस्म हो गये थे। दाग़ तो एक तरफ़ रहे। यदि चेहरा हब्शी का-सा होता तब भी सुखिया को कुछ महसूस न होता। चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा था और या फिर आग की लपटें थीं, जिसमें एक पुरुष और एक नारी की मूर्तियाँ कुन्दन की तरह दहकने लगी थीं।

इन्हीं विचारों में सुखिया जयराम की शक्ल को भूल चुकी थी। वह बहुत-सी बातें भूल जाती थी। उसे रह-रहकर ध्यान आता—वह रस्म पर आये क्यों नहीं? ज़रा रौनक़ हो जाती। यद्यपि मन घृणा से दग-दग करने लगता। लेकिन ऐसी घृणा का और क्या इलाज है? यही न कि और क़रीब हो जाये आदमी, और किसी के सारे दोष गुणों से बदल जायें।

वे नहीं आये। उन्हें कैसे पता चल गया कि मुझे उनसे घृणा है। सुखिया सोचने लगी—जैसे ही मैंने मुँह के दाग़ उड़ते देखने चाहे थे, वैसे ही वे चेहरे से उड़ गये। अब आँगन में टहलने वाले का मुँह फिटकार की तरह न दिखता था और यह दाम्पत्य जीवन का पहला दिन था और वह शीतला के दाग़ों को इतना भूल गयी थी। इतना....

रसोई में तसले पर दूध एक कौड़ियाले साँप की तरह बल खाता हुआ आग में गिरने लगा। "हे री, अपजस की गठरिया!" अम्माँ ने मेहरिया को आवाज़ दी "का हो गवा तोको? दूध उबलतावा ना दिखे? रांड़! पैसे माँगने को सिर पर चढ़ी चली आवे। पैसे न दूँगी, राख झोंक दूँगी मुँह माँ।" और अम्माँ पुपलाते मुँह के साथ जाने क्या कुछ कह गयी।

ढोर साँझ होते-होते फाटक के भीतर प्रवेश कर चुके थे। दूध भी दुहा जा चुका था। पीतल के दुहने तख़्त पर रखे हुए थे। काका दामाद की सहायता से तख़्त पर बैठे एक लाल जिल्द वाली बही पर

जल्दी-जल्दी कुछ लिख रहे थे। ऐनक बार-बार मुँह पर गिरती थी। ऐनक के किनारे एक मैले सफ़ेद रंग के हो गये थे। कमानी की जगह एक धागा कान तक चला गया था और टूटे हुए शीशे में से कभी-कभी एक के दो-दो आदमी दिखायी पड़ने लगते थे।

घर की स्त्रियों में हल्की-हल्की खुसुर-फुसुर हो रही थी। वे कड़ी दृष्टि से जयराम की ओर देखती थीं। सुखिया का माथा ठनका। वे क्यों न आये? सुखिया ने फिर अपने आप से प्रश्न किया और उसका दिल धड़कने लगा। उसे फिर मातिनहील याद आया। फिर जयराम....सभी स्त्रियाँ जयराम से कुछ कह रही थीं। घर की अम्माँ की तरह सुखिया को भी जयराम का पक्ष लेने का विचार हुआ। लेकिन.... लेकिन....सुन्दर चेहरे पर अगर काला दाग़ हो तो चेहरा और भी अधिक सुन्दर हो जाता है। पुरुष कमाऊ हो, सज्जन हो, स्वस्थ हो, शिक्षित हो तब फिर शीतला के दाग़ उसकी सुन्दरता हो जाते हैं। और सुखिया अब तक उन शीतला के दाग़ों में सुन्दरता पा लेने में सफल हो गयी थी।

रात हुई। सिर जोड़ी के लिए जयराम की खोज हुई। लेकिन जयराम ग़ायब था। बड़ी ननद घबरायी हुई आयी और बोली—"सुखिया बहन, बुरा न मानना। जवानी में सभी हठ धरम होते हैं।"

सुखिया बोली, "क्या हठ धरमी है?"

"यही बचपना है न। थोड़ा समय बीत जावेगा तो आप-से-आप समझ आ जावेगी।"

सुखिया आश्चर्य से ननद के मुँह की ओर देखती हुई बोली—"जीजी, ये का बातें हैं? मेरी समझ में तो ना आवें।"

"कोई बात भी हो।" ननद बोली, "जयराम कालेज का पढ़ावा है न। उसे खयाल है कि सुखिया की नाक लम्बी है। इसीलिए वह

रस्म पर नहीं आया। और अब कहाँ नाक लम्बी तुम्हारी !....थोड़ा समय बीत जावेगा तो आप-से-आप....।"

सुहाग रात अपने सारे धड़ाके के साथ सिर पर आ रही थी। सुखिया ने शीतला के दाग़ों को माफ़ करने की सीमा से परे जाकर उसमें सुन्दरता खोज ली थी, पर जयराम उसकी नाक को माफ़ न कर सका। और रात, ठंडी, उदास, निद्राहीन रात बीतती गयी....बीतती गयी....।

ग्रहण

रूपो, शिब्बू, कत्थू और मुन्ना—होली ने असाढ़ी के कायस्थों को चार बच्चे दिये थे और पाँचवाँ चन्द ही महीनों में जनने वाली थी। उसकी आँखों के गिर्द गहरे काले हलक़े पड़ने लगे थे। गालों की हड्डियाँ उभर आयीं और उनमें का मांस पिचक गया था। वह होली, जिसे पहले-पहले मैया प्यार से चाँदरानी कहकर पुकारा करती थी और जिसकी सेहत और सुन्दरता से रसीला को ईर्ष्या होती थी, गिरे हुए पत्ते की तरह पीली पड़ गयी थी और मुर्झा चुकी थी।

आज रात चन्द्रग्रहण था। शाम ही से चाँद ग्रहण के घेरे में प्रवेश करने लगता था। होली को इसकी अनुमति न थी कि वह कोई कपड़ा फाड़ सके—पेट में बच्चे के कान फट जायेंगे। वह सी न सकती थी—मुँहसिला बच्चा पैदा होगा। अपने मायके वह पत्र भी न लिख सकती थी—उसके टेढ़े मेढ़े अक्षर बच्चे के चेहरे पर लिखे जायेंगे। और अपने मायके वालों को पत्र लिखने का उसे बड़ा चाव था।

मायके का नाम आते ही उसका सारा शरीर एक अजानी भावना से काँप उठता। वह पीहर में थी तो उसे ससुराल का कितना चाव था।

पर अब ससुराल से उसका मन इतना भर चुका था कि वह वहाँ से भाग जाना चाहती थी। इस बात का उसने कई बार निश्चय भी किया, लेकिन हर बार असफल रही। उसका मायका असाढ़ी गाँव से पचीस मील की दूरी पर था। सागर के किनारे हरफूल बन्दर पर साँझ के समय स्टीमर लांच मिल जाता था और समुद्र-तट के साथ-साथ डेढ़ दो घंटे की यात्रा के बाद उसके मायके के गाँव के बड़े मन्दिर के मोरचा लगे कलस दिखने लगते थे।

आज साँझ से पहले रोटी, चौका, बर्तन-सभी कामों से निबटना था। मैया कहती थी कि ग्रहण से पहले रोटी आदि खा लेनी चाहिए, नहीं तो माँ की हर गति पेट में बच्चे के शरीर और भाग्य पर प्रभाव डालती है। मानो वह भद्दी-बेढंगी, चौड़े नथुनों वाली हठीली मैया अपनी बहू हमीदा बानो के पेट से किसी महान अकबर के जन्म की आशा बाँधे है। चार बच्चों, तीन पुरुषों, दो स्त्रियों और और चार भैंसों का बड़ा-सा कुटुम्ब और अकेली होली!

दोपहर तक तो होली बर्तनों का ढेर साफ़ करती रही, फिर पशुओं के लिए बिनौले, खली और चने भिगोने चली। यहाँ तक कि उसके कूल्हे दर्द से फटने लगे और विद्रोह-प्रिय बच्चा पेट में अपनी निरीह, किन्तु होली को तड़पा देनेवाली, क्रियाओं द्वारा विरोध प्रकट करने लगा। होली पराजित-सी चौकी पर बैठ गयी। लेकिन वह बहुत देर तक चौकी या फ़र्श पर बैठने के योग्य नहीं थी और फिर मैया का विचार था कि चौड़ी-चकली चौकी पर बहुत देर बैठने से बच्चे का सर चिपटा हो जाता है। मोंढा हो तो अच्छा है। कभी-कभी होली मैया और कायस्थों की आँख बचाकर खाट पर सीधी पड़ जाती और एक पेट भरी कुतिया की तरह टाँगों को अच्छी तरह से फैलाकर जमुहाई लेती। फिर साथ ही काँपते हाथ से वह अपने फूले पेट को सहलाने लगती।

यह सोचने से कि वह सीतल की बेटी है, वह अपने आप को रोक न सकती थी। सीतल सारंगदेव ग्राम का एक धनी साहूकार था और सारंगदेव ग्राम के आस-पास के बीस गाँव के किसान उससे ब्याज पर रुपया लेते थे। इसके बावजूद उसे कायस्थों के घर अपमानित किया जाता था। होली के साथ कुत्तों से भी बुरा व्यवहार होता था। कायस्थों को तो बच्चे चाहिएँ, होली जाय भाड़ में। मानो सारे गुजरात में ये कायस्थ ही कुल-वधु (कुल को बढ़ानेवाली बहू) का अर्थ समझते थे।

वर्ष-डेढ़ वर्ष के बाद वे एक नया कीड़ा घर में रेंगता हुआ देखकर खुश होते थे। और बच्चे के कारण कुछ भी खाना-पीना होली के अंग नहीं लगता था। शायद उसे रोटी भी इसीलिए दी जाती थी कि पेट में बच्चा माँगता है और इसीलिए उसे गर्भ के आरम्भ में चाट और फल खाने की स्वतन्त्रता मिल जाती थी।

'देवर है तो वह अलग पीटता है।' होली, सोचती 'और सास के कोसने मारपीट से भी कहीं बुरे हैं। और बड़े कायस्थ जब डाँटने लगते हैं तो पाँव तले से ज़मीन निकल जाती है। इन सब को भला मेरे प्राण लेने का क्या अधिकार है?....रसीला की बात तो दूसरी है। शास्त्रों ने उसे भगवान का स्थान दिया है। वह जिस छुरी से मारे उस छुरी का भला!....लेकिन क्या शास्त्र किसी स्त्री ने बनाये हैं?.... और मैया की तो बात ही अलग है।....शास्त्र किसी स्त्री ने रचे होते तो वह अपनी जाति पर इससे भी अधिक प्रतिबन्ध लगाती....।

....राहु अपने नये वेष में बड़ी इतमीनान से अमृत पी रहा था। चन्द्र और सूर्य ने विष्णु महाराज को इसकी सूचना दी और भगवान ने सुदर्शन-चक्र से राहु के दो टुकड़े कर दिये। उसका सिर और धड़ दोनों आकाश पर जाकर राहु और केतु बन गये। सूर्य और चन्द्र दोनों उनके ऋणी हैं। अब वे प्रति वर्ष चन्द्र और सूर्य से बदला लेते हैं।

और होली सोचती थी—'भगवान के खेल भी न्यारे हैं।....और राहु की आकृति भी कैसी अजीब है। एक काला सा राक्षस, शेर पर चढ़ा हुआ देखकर कितना डर लगता है। रसीला भी तो शक्ल से राहु जैसा ही दीखता है। मुन्ना के जन्म पर अभी चालीसवाँ भी न नहायी थी कि आ धमका।....क्या मुझे भी उसका ऋण भरना है?'

तभी होली के कानों में माँ-बेटे के आने की भनक पड़ी। होली ने दोनों हाथों से पेट को सम्हाला और उठ खड़ी हुई। उसने तवे को धीमी-धीमी आँच पर रख दिया। अब उसमें झुकने की शक्ति न थी कि फूँक कर आग जला सके। उसने प्रयास भी किया, पर उसकी आँखें फटकर बाहर आने लगीं।

रसीला एक नया मरम्मत किया हुआ सूप हाथ में लिये अन्दर आया। उसने जल्दी से हाथ धोये और होंठों में कुछ बड़बड़ाने लगा। उसके पीछे मैया आयी और आते ही बोली, "बहू!....अनाज रक्खा है क्या?"

होली डरते-डरते बोली—"हाँ-हाँ....रक्खा है....नहीं रक्खा, याद आया, भूल गयी थी मैया....।"

"तो बैठी क्या कर रही है, नवाबजादी?"

होली ने बड़ी दयनीय दृष्टि से रसीले की ओर देखा और बोली—"जी, मुझसे अनाज की बोरी हिलायी भी जाती है कहीं?"

मैया निरुत्तर हो गयी। और यों भी उसे होली की अपेक्षा उसके पेट के बच्चे की अधिक चिन्ता थी। शायद इसीलिए होली की आँखों-में-आँखें डालते हुए बोली—"तूने सुर्मा क्यों लगाया री?...रांड़, जानती भी है, आज ग्रहन है। यदि बच्चा अन्धा हो जाये तो तेरे ऐसी बेसवा उसे पालने चलेगी?"

होली चुप हो गयी और धरती में निगाहें गाड़े हुए मुँह में कुछ

बड़बड़ाती गयी। और जो भी हो, पर राँड़ की गाली उसके लिए असह्य थी। उसे बड़बड़ाते देखकर मैया और भी बकती-झकती चाबियों का गुच्छा खोजने लगी। एक मैले डीवट के पास सुर्मा पीसने का खरल रखा था। उसमें से चाबियों का गुच्छा निकालकर, वह भंडारे की ओर चली गयी। रसीले ने लोभी दृष्टि से होली की ओर देखा। उस समय होली अकेली थी। रसीले ने धीरे से उसके आँचल को छुआ। होली ने डरते-डरते हाथ झटक दिया और अपने देवर को पुकारने लगी, जैसे किसी दूसरे आदमी की उपस्थिति चाहती हो। इस अवस्था में पुरुष को ठुकरा देना मामूली बात नहीं होती। रसीला आवाज़ को चबाते हुए बोला, "मैं पूछता हूँ, भला इतनी जल्दी काहे की थी?"

"जल्दी कैसी?"

रसीला पेट की ओर इशारा करते हुए बोला, "यही....तुम भी तो कुतिया हो, कुतिया!"

होली सहमकर बोली, "तो इसमें मेरा क्या दोस है?"

होली ने अनजाने में रसीले को बर्बर, दुराचारी, कामुक—सभी कुछ कह दिया। चोट सीधी पड़ी। रसीले के पास इस बात का कोई जवाब न था। लाजवाब आदमी का जवाब चपत होती है। और दूसरे ही क्षण उँगलियों के निशान होली के गालों पर दिखने लगे।

तभी मैया उरद की एक टोकरी उठाये हुए भंडारे की ओर से आयी और बहू से दुर्व्यवहार के कारण बेटे को झिड़कने लगी। होली को रसीले पर तो गुस्सा न आया, हाँ मैया की इस आदत से जल-भुन गयी।—राँड़, आप मारे तो इससे भी ज्यादा, और जो बेटा कुछ कहे तो हमदर्दी जताती है। बड़ी आयी है....

होली सोचती थी—कल रसीले ने मुझे इसलिए मारा था कि मैंने उसकी बात का जवाब नहीं दिया, और आज इसलिए मारा है कि

मैंने बात का जबाब दिया है। मैं जानती हूँ वह मुझसे क्यों नाराज़ है। क्यों गालियाँ देता है। मेरे खाने-पकाने, उठने-बैठने में उसे क्यों सुघड़ापा नहीं दीखता....और मेरा यह हाल है कि नाक में दम आ चुका है। पुरुष स्त्री को संकट में डालकर आप अलग हो जाते हैं। ये पुरुष....!

मैया ने कुछ बासमती चावल, दालें और नमक आदि रसोई में बिखेर दिया और फिर एक भीगी हुई तराज़ू में उसे तौलने लगी। तराज़ गोली थी, यह मैया भी देख रही थी और जब बासमती चावल पेंदे में चिमट गये तो बहू मरती-करती फूहड़ हो गयी और आप इतनी सुघड़ कि नये दुपट्टे से पेंदा साफ़ करने लगी। जब बहुत मैला हो गया तो दुपट्टे को सिर पर से उतार कर होली की तरफ़ फेंक दिया और बोली—"ले, धो डाल !"

अब होली बेचारी नहीं जानती कि वह रोटियाँ पकाये या दुपट्टा धोये; बोले या न बोले; हिले या न हिले। वह कुतिया है या नवाब-जादी ? उसने दुपट्टा धोने में ही कुशल समझी। इस समय चाँद ग्रहण के घेरे में प्रवेश करने ही वाला होगा। बच्चा धुले हुए कपड़े की तरह चुर्र-मुर्र-सा उत्पन्न होगा। और यदि महीने-दो-महीने बाद बच्चे का पिचका हुआ-सा चेहरा देखकर उसे कोसा जाये तो इसमें होली का क्या दोष ? लेकिन दोष और निर्दोषिता की तो बात ही अलग है, क्योंकि कोई यह सुनने के लिए तैयार नहीं कि इसमें होली का क्या अपराध है।—सब अपराध होली का है !

तब होली को सारंगदेव ग्राम याद आ गया। किस तरह वह क्वार के आरम्भ में दूसरी स्त्रियों के साथ गरबा नाचा करती थी और भाभी के सिर पर रखे घड़े के छेदों में से रोशनी फूटकर दालान के चारों कोनों को जगमगा दिया करती थी। उस समय सब स्त्रियाँ अपने मेंहदी

लगे हाथों से तालियाँ बजाया करती थीं और गाया करती थीं—

माहँदी तो आवी मालवे
एनो रङ्ग गयो गुजरात रे
माहँदी रङ्ग लाग्यो रे

उन दिनों वह एक उछलने-कूदने वाली अल्हड़ छोकरी थी। छन्द और तुक से मुक्त एक कविता। जो चाहती थी, पूरा हो जाता था। घर में सबसे छोटी थी। नवाबजादी तो नहीं थी। और उसकी सखियाँ—वे भी अपने-अपने ऋणदाताओं के पास जा चुकी होंगी।.... सारंगदेव ग्राम में ग्रहण के अवसर पर जी खोलकर दान-पुण्य किया जाता है। स्त्रियाँ इकट्ठी होकर त्रिवेदी घाट पर स्नान के लिए चली जाती हैं। फूल, नारियल, बताशे समुद्र में बहाती हैं। पानी की एक उछाल मुँह खोले हुए आती है और सब फूल-पत्तों को स्वीकार कर लेती है। उस समय के स्नान से सब स्त्री-पुरुषों के पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है। उन पापों का, जो लोग पिछले वर्ष करते रहे हों। स्नान से सारे पाप धुल जाते हैं। शरीर और आत्मा पवित्र हो जाती है। समुद्र की लहरें लोगों के सारे पापों को बहाकर दूर, बहुत दूर—एक अज्ञात, अपार असीम, अगाध समुद्र में ले जाती है।....एक वर्ष बाद फिर लोगों के शरीर पापों से मैले हो जाते हैं, फिर गहना जाते हैं। फिर सागर की एक लहर आती है और फिर सब पवित्र और निर्मल!

जब ग्रहण शुरू होता है और चाँद की शुचिता पर कलंक लग जाता है, तब कुछ क्षणों के लिए चारों ओर निस्तब्धता छा जाती है। फिर राम नाम का जाप शुरू होता है। फिर घंटे, शंख एकदम बजने लगते हैं। इस कोलाहल में स्नान के बाद सब स्त्री-पुरुष इकट्ठे होकर सामूहिक रूप में गाते-बजाते हुए गाँव लौटते हैं।

---

*मेंहदी तो मालवा में पैदा हुई। उस में गुजरात रँगा हुआ है। मानो उसे मेंहदी का रंग चढ़ गया है।

ग्रहण के समय दरिद्र लोग बाज़ारों और गली कूचों में दौड़ते हैं। लंगड़े बैसाखियाँ घुमाते अपनी-अपनी झोलियाँ और भिक्षा-पात्र थामे प्लेग के चूहों की तरह एक दूसरे पर गिरते-पड़ते भागते चले जाते हैं। क्योंकि राहु और केतु ने सुन्दर चाँद को अपनी गिरफ़्त में बुरी तरह जकड़ लिया है, दयावान हिन्दू दान देता है कि बेचारे चाँद को मुक्ति मिल जाये और दान लेने के लिए भागने वाले भिखारी 'छोड़ दो, छोड़ दो, दान का समय है, छोड़ दो।' का शोर मचाते हुए मीलों का चक्कर लगा लेते हैं।

चाँद ग्रहण के घेरे में आने वाला ही था। होली ने बच्चों को बड़े कायस्थ के पास छोड़ा। एक मैली कुचैली धोती बाँधी और स्त्रियों के साथ हरफूल बन्दर की ओर स्नान के लिए चली।

अब मैया, रसीला, बड़ा लड़का शिब्बू और होली सब समुद्र की ओर जा रहे थे। उनके हाथों में फूल थे, गजरे थे और आम के पत्ते थे, और बड़ी अम्माँ के हाथ में रुद्राक्ष की माला के अतिरिक्त कपूर था जिसे वे जलाकर पानी की लहरों पर बहा देना चाहती थी, ताकि मरने के बाद की यात्रा में उसका मार्ग आलोकित हो जाये। और होली डरती थी—क्या उसके पाप समुद्र के जल से धुल जायेंगे?

सागर-तट पर घाट से लगभग पौन मील के अंतर पर एक लांच खड़ा था। वह स्थान हरफूल बन्दर का एक भाग था। बन्दर के छोटे-से ऊबड़-खाबड़ तट और एक संक्षिप्त-सी गोदी पर कुछ टंडैल गोधूलि बेला में प्रकाश और अंधकार के इस संघर्ष के विरुद्ध नन्हे-नन्हे, नगण्य-से खाके बना रहे थे और लांच के किसी केबिन से एक हल्की-सी टिमटिमाती हुई रोशनी पारे की तरह पानी की लहरों पर नाच रही थी। उसके बाद एक चर्खी-सी घूमती हुई दिखायी पड़ी। कुछेक धुँधले-से साये एक अजगर जैसे रस्से को खींचने लगे। आठ

बजे स्टीमर-लांच की आखिरी सीटी थी। फिर वह सारंगदेव ग्राम की ओर रवाना होगा। यदि होली उस पर सवार हो जाय तो फिर डेढ़ दो घंटे में वह चाँदनी में नहाये हुए, मानो सदियों से परिचित, कलस दिखायी पड़ने लगें....और फिर वही अम्माँ....कुँआरपना और गरबा नाच !

होली ने एक नज़र शिब्बू पर डाली। शिब्बू चकित था कि उसकी माँ ने इतनी भीड़ में झुककर उसका मुँह क्यों चूमा और एक गर्म-गर्म बूँद कहाँ से उसके गालों पर आ पड़ी। उसने आगे बढ़कर रसीले की उँगली पकड़ ली। अब घाट आ चुका था, जहाँ से स्त्री और पुरुष अलग हो जाते थे। सदा के लिए नहीं, केवल चन्द घंटों के लिए.... इसी जल की साक्षी में वे अपने पुरुषों से बाँध दी गयी थीं। जल में भी कितनी रहस्य भरी और दुर्बोध शक्ति है !

और दूर से लांच की टिमटिमाती हुई रोशनी होली तक पहुँच रही थी।

होली ने भागना चाहा। पर वह भाग भी तो न सकती थी। उसने अपनी हल्की-सी धोती को कसकर बाँधा। धोती नीचे की ओर ढलक जाती थी।....आध घंटे में वह लांच के सामने खड़ी थी। लांच के सामने नहीं, सारंगदेव ग्राम के सामने....वे कलस, मंदिर के घंटे, लांच की सीटी। और होली को याद आया कि उसके पास तो टिकट के लिए भी पैसे नहीं हैं।

वह कुछ समय तक लांच के एक कोने में चेतनाहीन-सी बैठी रही। पौने आठ बजे के लगभग एक टंडैल आया और होली से टिकट माँगने लगा। टिकट न मिलने पर वह चुपके से वहाँ से टल गया। कुछ देर बाद कर्मचारियों की खुसुर-फुसर सुनायी देने लगी।....फिर अँधेरे में धीरे-से हँसने और बातें करने की आवाज़ें आने लगीं। कोई-

कोई शब्द होली के कान में भी पड़ जाता—मुर्ग़ी....दूले....चाबियाँ मेरे पास हैं....पानी ज़्यादा होगा....

इसके बाद कुछ बर्बर ठहाके सुनायी पड़े और कुछ देर बाद तीन-चार आदमी होली को लांच के एक अँधेरे कोने की ओर ढकेलने लगे। तभी आबकारी का एक सिपाही लांच में आ गया। ठीक उस समय, जब होली की आँखों में दुनिया अँधेरी हो रही थी, उसे आशा की एक किरण दिखायी पड़ी। वह सिपाही सारंगदेव ग्राम का ही एक छोकरा था और मायके के रिशते से भाई था। छै वर्ष हुए, वह बड़ी उमंगों के साथ गाँव से बाहर निकला था और साबरमती पार कर किसी अज्ञात देश को चला गया था। कभी-कभी विपत्ति के समय आदमी की चेतना लौट आती है। होली ने सिपाही को उसके स्वर से ही पहचान लिया और कुछ निर्भीकता से पुकारा, "कत्थूराम !"

कत्थूराम ने भी सीतल की छोकरी का स्वर पहचान लिया। बचपन में वह उसके साथ खेला था।

कत्थूराम ने कहा—"होले !"

होली विश्वास से परिपूर्ण, किन्तु भर्राये हुए स्वर में बोली—"कत्थू भैया....मुझे सारंगदेव ग्राम पहुँचा दो....!"

कत्थू राम निकट आया। एक टंडैल को घूरते हुए बोला—"सारंगदेव जाओगी होले ?" और फिर सामने खड़े आदमी से उसने पूछा—"तुमने इसे यहाँ क्यों रखा है भाई ?"

टंडैल, जो सबसे निकट था, बोला—"इसके पास तो टिकट के पैसे भी नहीं थे। हम सोच रहे थे, हम इसकी क्या मदद कर सकते हैं ?"

कत्थूराम ने होली को साथ लिया और लांच से नीचे उतर आया। डेक पर क़दम रखते हुए बोला—"होले !....क्या तुम असाढ़ी से भाग आयी हो ?"

"हाँ !"

"यह भली स्त्रियों का काम है ?....और जो मैं कायस्थों को खबर कर दूँ तो ?"

होली डर से काँपने लगी। वह न तो अब नवाबजादी थी और न सरीफजादी। इस जगह और ऐसी स्थिति में वह कत्थूराम को कुछ कह भी तो नहीं सकती थी। वह अपनी दुर्बलता अनुभव करती हुई चुपचाप ज्वार पर आये हुए सागर का गम्भीर गर्जन सुनने लगी। फिर उसके सामने लांच के रस्से ढीले किये गये। एक हल्की-सी सीटी हुई और हौले-हौले सारंगदेव ग्राम होली की दृष्टि से ओझल हो गया। उसने एक बार पीछे की ओर देखा। लांच के मन्द-से प्रकाश में उसे झाग की एक लम्बी-सी लकीर लांच का पीछा करती हुई दिखायी पड़ी।

कत्थूराम बोला, "डरो नहीं होले....मैं तुम्हारी हर तरह सहायता करूँगा। नाव यहाँ से कुछ दूर पड़ती है। पौ फटे ले चलूँगा। तुम घबराओं नहीं, रात-की-रात सराय में आराम कर लो।"

कत्थूराम होली को सराय में ले गया। सराय का मालिक बड़े आश्चर्य से कत्थूराम और उसकी संगिनी को देखता रहा। आखिर जब उससे न रहा गया तो उसने कत्थूराम से बड़े धीमे स्वर में पूछा—"यह कौन है ?"

कत्थूराम ने धीरे से जवाब दिया, "मेरी बीवी है !"

होली की आँखें पथराने लगीं। एक बार उसने अपने पेट को थामा और दीवार के सहारे बैठ गयी। कत्थूराम ने सराय में एक कमरा किराये पर ले लिया। होली ने डरते-डरते उस कमरे में प्रवेश किया। कुछ देर बाद कत्थूराम अन्दर आया तो उसके मुँह से शराब की बू आ रही थी।

दीवाला

समुद्र की एक बड़ी भारी उछाल आयी और सब फूल, बताशे, आम की टहनियाँ, गजरे और जलता हुआ कपूर बहा ले गयी। उसके साथ ही मनुष्य के घोर-तम पाप भी लेती गयी—दूर, बहुत दूर—एक अज्ञात, अपार, असीम, अगाध सागर की ओर....जहाँ अंधकार ही अंधकार था।....फिर शंख बजने लगे। तभी सराय में से कोई स्त्री निकलकर भागी। सरपट, बगटुट....वह गिरती थी, भागती थी, भागती थी, पेट पकड़ कर बैठ जाती थी, हाँपती और दौड़ने लगती थी।.... उस समय आकाश पर चाँद पूरा गहना चुका था। राहु और केतु ने जी भरकर ऋण वसूल किया था।....दो धुँधले से साये उस स्त्री की सहायता के लिए घबराये हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे।....चारों ओर अंधकार ही अंधकार था और दूर, असाढ़ी से हल्की-हल्की आवाज़ें आ रही थीं—

"दान का समय है....।"

"छोड़ दो....छोड़ दो....छोड़ दो....!"

हरफूल बन्दर से आवाज़ आयी—

पकड़ लो... पकड़ लो....पकड़ लो...."

.....

.....

"छोड़ दो....दान का समय है....पकड़ लो....छोड़ दो !!"

सफ़र

दिन भर काम करने के बाद, जब बूढ़ा रहमान घर पहुँचा तो भूख उसे बहुत सता रही थी। "जीना की माँ! जीना की माँ!" उसने चिल्लाते हुए कहा, "खाना निकाल दे बस झट से!"

बुढ़िया उस समय अपने हाथ कपड़ों-लत्तों में गीले किये बैठी थी और इससे पहले कि वह अपने हाथ पोंछ ले, रहमान ने एक दम अपने जूते खाट के नीचे उतार दिये और खद्दर के मुलतानी तहमद को जाँघों में दबा, खाट पर फसकड़ा मारते हुए बोला—"बिस्मिल्लाह!"

बुढ़ापे में भूख जवान हो जाती है। रहमान की 'बिस्मिल्लाह' बुढ़ापे और जवानी की इस दौड़ में रकाबी से बहुत पहले और बहुत दूर निकल गयी थी, और अभी तक बुढ़िया ने सब्जी और नील में भिगोये हुए हाथ दुपट्टे से नहीं पोंछे थे। जीना की माँ बराबर चौवालीस साल से अपने हाथ दुपट्टे से पोंछती आयी थी और रहमान लगभग उतने ही अर्से से इस बात पर नाराज़ होता आया था। लेकिन आज अचानक वह .खुद भी इस समय बचाने वाली आदत को सराहने लगा था। रहमान बोला, "जीना की माँ, जल्दी ज़रा....।"

और बुढ़िया अपनी चौवालीस वर्षीय दकियानूसी अदा से बोली, "आय हाय, ज़रा दम तो ले बाबा तू !"

तभी संयोगवश, रहमान की निगाह अपने जूतों पर जा पड़ी, जो उसने जल्दी से खाट के नीचे उतार दिये थे। रहमान का एक जूता दूसरे जूते पर चढ़ गया था। यह निकट भविष्य में किसी यात्रा पर जाने का लक्षण था। रहमान ने हँसते हुए कहा—"आज फिर मेरा जूता जूते पर चढ़ रहा है जीना की माँ....अल्लाह जाने मुझे किस सफ़र पर जाना है !"

"जीना से मिलने जाना है और कहाँ जाना है ?" बुढ़िया बोली, "योंही तेरे गूदड़ तो नहीं धो रही हूँ बुड्ढे ! दो पैसे का तो नील ही लग गया है तेरे कपड़ों में। क्या तू दो पैसे रोज़ की कमायी भी करे है ?"

"हाँ, हाँ !" बूढ़े रहमान ने सिर हिलाते हुए कहा, कल मुझे अपनी एकलौती बच्ची से मिलने अम्बाला जाना है। तभी तो यह जूता, जूते से अलग नहीं होता।" पार साल भी जब यह जूता, जूते पर चढ़ गया था तो रहमान को पर्ची डालने के लिए ज़िला कचहरी जाना पड़ा था। उसके मन में उस वर्ष की यात्रा और जूतों की करतूत भली-भाँति अंकित थी। ज़िला कचहरी से वापसी पर उसे पैदल ही आना पड़ा था, क्योंकि होने वाले मेम्बर ने तो उसे वापसी पर उसका किराया भी नहीं दिया था। इसमें मेम्बर का क़ुसूर नहीं था, बल्कि जब रहमान पर्ची पर चर्खी का निशान डालने लगा था तो उसके हाथ काँप रहे थे और उसने घबराकर पर्ची किसी दूसरे मेम्बर के पक्ष में डाल दी थी।

जीना से मिले उसे दो वर्ष होने को आये थे। जीना अम्बाला में ब्याही थी। इन दो वर्षों में अंतिम कुछ महीने रहमान ने बड़ी मुश्किल

में गुज़ारे थे। उसे यही लगता था जैसे दहकता हुआ उपला उसके दिल पर रखा हुआ है। जब उसे जीना से मिलने का ख़याल आता तो उसे कुछ सुख कुछ शान्ति-सी मिल जाती। जब मिलने का ख़याल ही इतना संतोष देता था तो मिलना कैसा होगा? बूढ़ा रहमान सोचता था—वह अपनी लाडली बेटी जीना से मिलेगा और फिर तिलंगों के सरदार अली मुहम्मद से। पहले तो वह रो देगा, फिर हँस देगा, फिर रो देगा और अपने नन्हे नाती को लेकर गलियों-बाज़ारों में खिलाता फिरेगा।

"यह तो मैं भूल ही गया था जीना की माँ!" रहमान ने खाट की एक खुली हुई रस्सी को आदत के अनुसार घिसकर तोड़ते हुए कहा, बुढ़ापे में याददाश कितनी कमजोर हो जाती है।"

अली मुहम्मद, जीना का पति, एक लम्बा-तगड़ा जवान था। सिपाही से उन्नति करते-करते वह नायक बन गया था। तिलंगे उसे अपना सरदार कहते थे। शान्ति के दिनों में अली मुहम्मद बड़े जोश-खरोश से हॉकी खेला करता था। एन० डब्ल्यू० आर०, पुलिस मैन, ब्रिगेड वाले, यूनिवर्सिटी वाले, उसने सब हरा दिये थे। अब तो वह अपनी एम-टी के साथ बसरा जाने वाला था, क्योंकि इराक़ में रशीद अली बहुत ज़ोर पकड़ चुका था।....इस हॉकी के कारण ही अली मुहम्मद कम्पनी कमांडर की निगाहों में बहुत ऊँचा उठ गया था। नायक बनने से पहले वह जीना से बड़ा अच्छा बरताव करता था, लेकिन इसके बाद वह अपनी ही नज़रों में इतना ऊँचा उठ गया था कि जीना उसे पाँव के नीचे भी दिखायी न देती थी। इसका एक और भी कारण था। मिसेज़ होल्ट, कम्पनी कमांडर की मेम ने पारितोषिक वितरण के समय अंग्रेज़ी में अली मुहम्मद से कुछ कहा था, जिसका अनुवाद सूबेदार ने यह किया था, "मैं चाहती हूँ, तुम्हारी स्टिक चूम

लूँ।" अली मुहम्मद का खयाल था कि शब्द स्टिक नहीं होगा, कुछ और होगा। बड़ा ईर्ष्यालु है सूबेदार। अंग्रेजी तो बस गोहाने तक ही जानता है।

रहमान को यों महसूस होने लगा, जैसे उसे अपने दामाद से नहीं, बल्कि किसी बहुत बड़े अफ़सर से मिलने जाना है। उसने खाट पर से झुककर जूते पर से जूता उतार दिया, जैसे वह अम्बाला जाने से घबराता हो। इसी बीच जीना की माँ खाना ले आयी। आज उसने आशा के विपरीत बड़ा गोश्त पका रखा था। जीना की माँ ने गोश्त बड़ी मुश्किल से क़स्बे से मँगवाया था और उसमें घी अच्छी तरह से छोड़ा था। छै महीने पहले रहमान तिल्ली के रोग से बुरी तरह आक्रान्त था, इसलिए वह पित्त को बढ़ाने वाली सारी चीज़ों—गुड़, तेल, बैंगन, मसूर की दाल, माँस और चिकने खाद्य पदार्थों से परहेज़ करता था। इस छै महीने में रहमान ने शायद सेर भर के लगभग नौशादर छाछ के साथ घोल कर पी लिया था, तब कहीं उसकी साँस की तकलीफ़ दूर हुई थी। भूख लगने के अतिरिक्त उसके पेशाब की सियाही सफ़ेदी में बदल गयी थी। आँखों में गदलाहट और अँधेरा वैसे ही स्पष्ट था। पलकों पर की भरभराहट भी पूर्ववत थी और त्वचा का रंग कालिमा-मिश्रित नीला हो गया था। मांस देखकर रहमान नाराज़ हो गया। बोला, "चार-पाँच दिन हुए तूने बैंगन पकाये थे, तब मैं चुप रहा, परसों मसूर की दाल पकायी, तब भी चुप रहा। तू तो बस चाहती है कि मैं बोलूँ ही नहीं, मरी मिट्टी का हो रहूँ। सच कहता हूँ, तू मुझे मारने पर तुली है जीना की माँ!"

बुढ़िया पहले ही दिन, जब उसने बैंगन पकाये थे, रहमान की ओर से विरोध की शंका कर रही थी। लेकिन रहमान के मौन का बुढ़िया ने उलटा ही अर्थ लगा लिया। वास्तव में बुढ़िया ने लगभग

एक निखट्टू आदमी के लिए अपने मुँह का स्वाद भी त्याग दिया था। बुढ़िया का सोचने का ढब भी न्यारा था। जब से वह पेट बढ़े हुए इस ढाँच के पल्ले बँधी थी, उसने सुख ही क्या पाया था? भला-चंगा रहमान लुधियाने में सिपाही था। लेकिन तरबूज़ के छिलके पर से फिसल कर घुटना तोड़ बैठने से उसकी पेन्शन हो गयी थी और वह घर बैठ रहा था। बुढ़िया ने कपड़े छाँटते हुए कहा, "तो न खा बाबा ....तेरी खातिर मैं तो ना मरूँ। मुझे तो रोज दाल....रोज दाल....में कुछ मजा नहीं दीखे।"

रहमान का जी चाहता था कि वह खाट के नीचे से जूता उठा ले और इस बुढ़िया की चँदिया पर से रहे-सहे बालों का भी सफ़ाया कर दे। सिर के बाल उतरते ही बुढ़िया का सदा बना रहने वाला नज़ला भी दूर हो जायेगा। लेकिन कुछ ही कौर मुँह में डालने के बाद तुरन्त ही उसे खयाल आया कि तिल्ली बढ़ती है तो बढ़ती रहे, कितना मज़ेदार गोश्त पकाया है मेरी जीना की माँ ने। मैं तो नाशुक्रा हूँ पूरा-पूरा। और रहमान चटखारे ले लेकर कौर निगलने लगा। सालन का तर किया हुआ कौर जब उसके मुँह में जाता तो उसे खयाल आता कि आखिर उसने जीना की माँ को कौन-सा सुख दिया है? वह चाहता था कि अब तहसील में चपरासी हो जाये और फिर उसके पुराने दिन लौट आयें।

खाने के बाद रहमान ने अपनी उँगलियाँ पगड़ी के शिमले से पोंछीं और उठ खड़ा हुआ। किसी अर्धचेतन भाव से उसने अपने जूते उठाये और उन्हें दालान में एक दूसरे से अच्छी तरह अलग-अलग करके डाल दिया।

लेकिन इस सफ़र से छुटकारा नहीं था, यद्यपि आठ दिन की

बोयी मक्की की निराई आवश्यक थी। सुबह दालान में झाड़ू देते समय बुढ़िया ने असावधानी से रहमान के जूते सरका दिये और जूते की एड़ी दूसरी एड़ी पर चढ़ गयी। साँझ के समय इरादे पस्त हो जाते हैं। सोने से पहले अम्बाला जाने का विचार रहमान के मन में पक्का नहीं था। उसका विचार था कि तराई में निराई कर चुकने के बाद ही वह कहीं जायेगा। और फिर कल के तर खाने ने उसके पेट में फिर कुछ गड़बड़ी पैदा का दी थी। लेकिन सुबह जब उसने फिर जूतों की हालत देखी तो उसने सोचा, अब अम्बाला जाये बिना छुटकारा नहीं है। मैं लाख इनकार करूँ, लेकिन मेरा दाना-पानी.... मेरे जूते बड़े चंट हैं, वे मुझे सफ़र पर जाने के लिए मजबूर करते हैं। उस समय सुबह के सात बजे थे, और सुबह के वक़्त इरादे बुलन्द हो जाते हैं। रहमान ने फिर अपना जूता सीधा किया और अपने कपड़ों की देख-भाल करने लगा।

नील में धुले कपड़े सूखकर रात-ही-रात में कैसे उजले हो गये थे। नीलाहट ने अपने-आपको खो कर सफ़ेदी को कितना उभार दिया था। जब कभी बुढ़िया नील के बिना कपड़े धोती थी तो यों दिखता था, जैसे अभी उन्हें पोखर के पानी से निकाला गया हो और पानी का मटियाला रंग उनमें यों बस गया हो, जैसे पागल के दिमाग़ में वहम बस जाता है।

जीना की माँ ओखली में लगातार दो-तीन दिन से जौ कूटकर तन्दुल बना रही थी। घर में अर्से से पुराना गुड़ पड़ा था, जिसे धूप में रखकर कीड़े निकाल दिये गये थे। इसके अलावा सूखी मक्की के भुट्टे थे। मानो जीना की माँ बहुत दिनों से इस सफ़र की तैयारी कर रही थी और जूते का जूते पर चढ़ना तो केवल उसकी पुष्टि भर था। बुढ़िया का ख़याल था कि इन तन्दुलों में से रहमान के लिए पाथेय भी

हो जायगा और बेटी के लिए सौग़ात भी।

रहमान को एक ख़याल आया। बोला, "जीना की माँ! भला क्या नाम रखा है उन्होंने अपने नन्हे का?"

बुढ़िया हँसते हुए बोली, "साहक (इसहाक़) रखा है नाम, और क्या रखा है नाम उन्होंने अपने नन्हे का। वाह! सचमुच कितनी कमजोर है तेरी याददाश!"

इसहाक़ का नाम भला रहमान कैसे याद रख सकता था। जब वह स्वयं भी नन्हा था, तो उसके दादा को भी रहमान का नाम भूल गया था। दादा खाता-पीता आदमी था। उसने चाँदी की एक तख़्ती पर अरबी अक्षरों में रहमान लिखवा कर उसे अपने पोते के गले में डाल दिया था। लेकिन पढ़ना किसे आता था। बस वह तख़्ती को देखकर हँस दिया करता था। उन दिनों तो नाम गामूँ, शेरा, फ़त्तू, फ़ज्जा जैसे ही होते थे। इसहाक़, शोऐब जैसे नाम तो अब क़स्बे के लोगों ने रखने शुरू किये थे। रहमान सोचने लगा, साहक तो अब डेढ़ बरस का हो चुका होगा। अब उसका सिर भी नहीं झूलता होगा। वह गर्दन उठाकर मेरी ओर टुक-टुक देखता जायेगा और अपने नन्हे से दिल में सोचेगा, अल्लाह जाने यह बाबा, चिट्टे बालों वाला बूढ़ा, हमारे घर कहाँ से आ टपका? वह नहीं जानेगा कि उसका अपना बाबा है, अपना नाना, जिसके हाड़-मांस से वह स्वयं भी बना है। वह चुपके से अपना मुँह जीना की गोद में छिपा लेगा। मेरा जी चाहेगा, मैं जीना को भी अपनी गोद में उठा लूँ। लेकिन जवान बेटियों को कौन गोद में उठाता है।...नाहक़ इतनी बड़ी हो गयी जीना। बचपन में वह जब खेल-कूद कर बाहर से आती थी तो उसे सीने से लगा लेने से कितनी ठंड पड़ जाती थी। उन दिनों दिल पर यह सुलगता हुआ उपला रखा नहीं महसूस होता था।....अब वह सिर्फ़ उसे दूर ही

से देख सकेगा। उसका सिर प्यार से चूम लेगा....और....क्या वही तस्कीन हासिल होगी ?

रहमान को इस बात का तो विश्वास था कि वह उन सब को देखकर अनायास रो देगा। वह आँसू रोकने का लाख प्रयास करेगा, लेकिन वे आप-से-आप चले आयेंगे। वे इसलिए नहीं बहेंगे कि तिलंगा उसकी बेटी को पीटता है, बल्कि ज़बान के लम्बे किस्सों की जगह आँखों ही से यह बात प्रकट कर देगा कि जीना, मेरी बेटी ! तेरे पीछे मैंने बहुत कड़े दिन देखे हैं। जब चौधरी खुशहाल ने मुझे मारा था तब उस समय मेरी कमर बिलकुल टूट गयी थी। मैं तो मर ही चला था। फिर तू कहाँ देखती अपने अब्बा को ? लेकिन बिना मौत आये कोई नहीं मरता। शायद मैं तेरे या साहके या किसी और भाग्यवान के पाँव की ख़ैरात बच रहा।

....और क्या नन्हे का लहू जोश मारने से रह जायेगा ? वह हुमककर चला आयेगा मेरे पास और मैं कहूँगा, साहक बेटा ! देख, मैं तेरे लिए लाया हूँ तन्दुल और गुड़, और खिलौने और....बहुत कुछ लाया हूँ। हाँ, गाँव के लोगों का यही गरीबी दावा होता है। नन्हा मुश्किल से दाँतों में पपोल सकेगा किसी हरे भुट्टे को। और जब तिलंगे से मेरी तू-तू, मैं-मैं होगी तो मैं उसे खूब खरी-खरी सुनाऊँगा। बड़ा समझता है अपने-आपको। कल की गिलहरी और....और....वह नाराज़ हो जायेगा। कहेगा, घर रखो अपनी बेटी को....फिर मैं उसके बेटे को उठाये फिरूँगा, गली-गली, बाज़ार-बाज़ार....और मन जायेगा तिलंगा।

रहमान ने निराई का प्रबन्ध किया। खड़ी खेती की क़सम पर कुछ रुपये उधार लिये। सौग़ात बाँधी, अपने लिए भी पाथेय रखा। और इक्के पर सवार हो गया। बुढ़िया ने उसे अल्लाह को सौंपते हुए कहा, "बसरे चला जायेगा अलिया चन्द रोज में। मेरी जीना

को साथ ही लेते आना, और मेरे साहके को। कौन जाने कब दम निकल जाये।

मलका रानी से मानिकपुर पहुँचते-पहुँचते रहमान ने इसहाक़ के लिए बहुत-सी चीज़ें ख़रीद लीं। एक छोटा-सा शीशा था, एक सिलोलाइड का जापानी झुनझुना जिसमें आधे दर्जन के लगभग घुंघरू एकदम बज उठते थे। मानिकपुर से रहमान ने एक छोटा-सा गड़ीरा भी ख़रीद लिया ताकि इसहाक़ उसे पकड़ कर चलना सीख जाये। कभी रहमान कहता, अल्लाह करे इसहाक़ के दाँत इस क़ाबिल हों कि वह भुट्टे खा सके! फिर एकदम उसकी इच्छा होती कि वह इतना छोटा हो कि चलना भी न सीखा हो और जीना की पड़ोसिनें जीना से कहें, नन्हे ने तो अपने नाना के गड़ीरे पर चलना सीखा है। और रहमान नहीं जानता था कि वह नन्हे को बड़ा देखना चाहता है या बड़े को नन्हा। उसकी केवल यही इच्छा थी कि उसके तन्दुल, उसके भुट्टे, उसका शीशा, उसका जापानी झुनझुना और बाक़ी ख़रीदी हुई सब चीज़ें सार्थक हों। वे सब को पसन्द आ जायँ। कभी वह सोचता, क्या जीना गाँव के गँवार लोगों के इन उपहारों को पसन्द करेगी? हो सकता है, वह केवल मेरा मन रखने के लिए इन चीज़ों को पाकर बाग़-बाग़ हो जाय। लेकिन क्या वह मेरा दिल रखने के लिए ही ऐसा करेगी? फिर तो मुझे बहुत दुख होगा। क्या मेरे तन्दुल सचमुच उसे पसन्द नहीं आ सकते? मेरी बेटी को, मेरी अपनी जीना को? अलिया तो पराया पेट है। वह तो कुछ भी पसन्द नहीं करेगा। वह तो नायक है। अल्लाह जाने, साहब लोगों के साथ क्या कुछ खाता होगा। वह क्यों पसन्द करने लगा गाँव के तन्दुल! और मानिकपुर से रवाना होते समय रहमान काँपने लगा।

रहमान तन और मन से थक गया था। वह ऊँघने-सा लगा। रात के गोश्त ने उसके पेट का शैतान जगा दिया था। आँखों में गदलाहट और अँधेरा तो था ही, लेकिन कुछ सफ़र, कुछ गरिष्ठ भोजन के कारण आँखों में से शोले लपकने लगे। रहमान ने अपने पेट को दबाया, तिल्ली वाली जगह फिर ठस्स-सी लगती थी। जीना की माँ ने व्यर्थ ही मांस पकाया। लेकिन उस समय तो उसे दुपट्टे से उसका हाथ पोंछना और गोश्त दोनों चीज़ें पसन्द आयीं थीं।

रहमान को एक जगह लघुशंका की इच्छा हुई और उसने देखा कि उसका पेशाब सियाही लिये हुए गदला था। रहमान को फिर वहम हो गया। कुछ भी हो, उसने सोचा, मुझे परहेज़ करना चाहिए। पुराना रोग फिर पलट आया है।

गाड़ी में खिड़की की तरफ़ से उत्तरी हवा फ़र्राटे भरती हुई अन्दर आ रही थी। निगाहों के सामने पेड़ों के घूमने, कभी आँखें बन्द करने और खोलने से रहमान को गाड़ी बिलकुल एक पंगोड़े की तरह आगे-पीछे जाती हुई मालूम होती थी। दो-तीन स्टेशन एक ऊँघ में ही निकल गये। जब वह करनाल से एक-दो स्टेशन इधर ही था तो उसकी आँख खुल गया। उसकी सीट के नीचे से गठरी उठा ली गयी थी। केवल उसके अपने गुज़ारे के लिए तन्दुल और चादर के पल्लू में बँधे मक्की के भुट्टे रह गये थे या उसके फैले हुए पाँव के पास गड़ीरा खड़ा था।

रहमान शोर मचाने लगा। उस डिब्बे में एक-दो अच्छी वेश-भूषा वाले यात्री समाचारपत्र देख रहे थे। बूढ़े को इस प्रकार बिगड़ते देखकर चिल्लाये—"शोर मत मचाओ, ए बूढ़े!" लेकिन रहमान बोलता चला गया। उसके सामने ही एक बटी हुई मूँछों वाला सिपाही बैठा था। रहमान ने उसे पकड़ लिया और बोला—"तूने ही मेरी गठरी उठवायी है, बेटा...."

सिपाही ने एक झटके से रहमान को परे फेंक दिया। इस खींचा-तानी में रहमान का दम फूल गया। बाबू फिर बोले—"तो सो क्यों गया था बाबा? तू सम्हाल कर रखता अपनी गठरी को। तेरी अक्ल क्या घास चरने गयी थी बाबा।"

रहमान उस समय सारी दुनिया के साथ लड़ने को तैयार था। उसने सिपाही की वर्दी फाड़ डाली। सिपाही ने गड़ीरे की लठिया खींच कर रहमान को मारी। इसी बीच टिकट-चेकर डिब्बे में आ गया। वह भी बाबू लोगों की राय का पल्ला भारी देखकर रहमान को गालियाँ देने लगा और रहमान को हुक्म दिया कि वह करनाल पहुँचकर गाड़ी से उतर जाये। उसे रेलवे पुलिस के हवाले किया जायेगा। टिकट-चेकर के साथ लड़ाई में एक लात रहमान के पेट में लगी और वह फ़र्श पर लेट गया।

करनाल आ चुका था। रहमान, उसकी चादर और गड़ीरा प्लेट-फ़ार्म पर उतार दिये गये। गड़ीरे की लठिया ढाँचे से अलग खून में भीगी एक तरफ़ पड़ी थी और मक्की के भुट्टे खुली हुई चादर से निकल कर फ़र्श पर लुढ़क रहे थे।

रहमान के पेट में बहुत चोट लगी थी। उसे स्ट्रेचर पर डालकर करनाल के रेलवे अस्पताल में ले जाया गया।

जीना, साहका, अलीमुहम्मद, जीना की माँ....एक-एक करके रहमान के सामने से गुज़रने लगे। ज़िन्दगी की फ़िल्म कितनी छोटी है। इसमें मुश्किल से तीन-चार आदमी और एक दो औरतें ही आ सकती हैं। बाक़ी मर्द-औरतें भी आती हैं, लेकिन उनमें से कुछ भी तो याद नहीं रहता। जीना, साहका, अलीमुहम्मद और जीना की माँ.... या कभी-कभार इन्हीं चन्द लोगों के लिए संघर्ष की घटनाएँ स्मृति में

ताज़ा हो जाती हैं। जैसे प्लेटफ़ार्म पर पड़ा हुआ गड़ीरा और मक्की के लुढ़कते हुए भुट्टे, जिन्हें खलासियों, वाचमैनों, सिगनल वालों के आवारा छोकरे उठा-उठाकर भाग रहे हों और उनके काले-काले चेहरों पर सफ़ेद दाँत बिलकुल इसी तरह दिखायी दें जैसे इस अँधेरी-सी पृष्ठभूमि में उनकी हँसी, उनके ठहाके....या दूर कोई पुलिस-मैन अपनी डायरी में कुछ आवश्यक और अनावश्यक विवरण लिख रहा हो :

फिर लात मारी....

ऐं ? यह नहीं हो सकता....अच्छा, फिर लात मारी। और फिर....

फिर अस्पताल के सफ़ेद बिस्तरे, कफ़न की तरह मुँह खोले हुए चादरें, क़ब्रों की तरह चारपाइयाँ, यमदूत के समान नर्सें और डाक्टर....

रहमान ने देखा उसकी तन्दुलों वाली चादर अस्पताल में उसके सिरहाने पड़ी थी। "यह भी वहीं छोड़ आये होते।" रहमान ने कहा—"इसकी मुझे क्या ज़रूरत है ?" उसके अतिरिक्त रहमान के पास कुछ भी न था। डाक्टर और नर्स उसके सिरहाने खड़े प्रतिक्षण लट्ठे की सफ़ेद चादर को मुँह की ओर खिसका देते थे....रहमान को उल्टी होने को हुई। नर्स ने तुरन्त एक चिलमची बेड के नीचे सरका दी। रहमान क़ै करने के लिए झुका और उसने देखा कि उसने अपने जूते पूर्ववत जल्दी से चारपाई के नीचे उतार दिये थे और जूते पर जूता चढ़ गया था। रहमान एक मैली-सी, सिकुड़ी हुई हँसी-हँसा और बोला, "डाकदार जी ! मुझे सफ़र पर जाना है। आप देखते हैं मेरा जूता जूते पर कैसे चढ़ रहा है ?"

डाक्टर जवाब में मुस्करा दिया और बोला—"हाँ बाबा, तुझे बड़े लम्बे सफ़र पर जाना है बाबा....।" फिर रहमान के सिरहाने की चादर टटोलते हुए बोला—"लेकिन तेरा पाथेय कितना कम है

बाबा....यही केवल तन्दुल और इतना लम्बा सफ़र....।"

....बस जीना, जीना की माँ, साहका और अलीमुहम्मद या वह दुखद घटना....

रहमान ने पोटली पर अपना हाथ रख दिया और एक बड़े लम्बे सफ़र पर रवाना हो गया।

लारवे

मेरे झोंपड़े के बाहर, सड़क के किनारे, एक छोटा-सा गढ़ा है, जिसे पिछले हफ़्ते की रात को वर्षा ने भर दिया है। बिलकुल एक छोटे-से दिल की तरह, जिसमें भावनाओं के ज्वारभाटे पैदा होते हैं, गदले पानी के इस गढ़े में भी लहरें उठती हैं, अपने सीमित कूल से टकराती हैं, नष्ट हो जाती हैं।

कभी-कभी मैं अपने घर के पास बाँसों के एक ठुंठ पर पाँव रख-कर खड़ा हो जाता हूँ और इस गढ़े में मलेरिया के कीटाणुओं से भरे हुए गन्दे पानी को बड़े ध्यान से देखता हूँ। उसे हिला कर उसमें कीचड़ के बादल पैदा करता हूँ और दाल बघारती हुई अज़ीज़ा को पुकार कर कहता हूँ—"अज़ीज़ा! अगर यह गढ़ा एक ख़ूबसूरत झील होता तो कैसा रहता?"

अज़ीज़ा हमेशा की तरह एक सूखी-सी हँसी हँसते हुए मेरी बात को दोहरा भर देती है और मैं सोचता हूँ, अगर यह गढ़ा नीले पानी की एक सुन्दर झील होता तब भी शायद अज़ीज़ा के दिल की धड़कन वैसी-की-वैसी रहती....लेकिन इसके बावजूद झील का ख़याल आते ही

मेरे हृदय का कीटाणुओं से भरा हुआ, समस्त गदला पानी गतिशील हो जाता है और मैं भावनाओं के डोंगे पर बैठा हुआ पानी में बहुत दूर निकल जाता हूँ। शायद चाँदनी रात होती है, और मैं पागलों की तरह गाता हूँ—

ओ मेरी चाँदनी रातों के ख़ुदा

उस समय मैं ली-पू की-सा विक्षिप्त हो जाता हूँ और मैं ख़ुशी और रोशनी के हर विम्ब को ख़ुशी और रोशनी समझकर झील के अथाह पानियों में डूब जाता हूँ। कश्मीरी डल के वे सारे दृश्य मेरे मन में कौंध उठते हैं, जो मैंने कभी नहीं देखे। हाँ हर साल देखने का निश्चय करता हूँ, लेकिन या तो सरकारी आज्ञा के पालन में बन्दूकों वाली बैरिकों का ठीका ख़त्म करना होता है या मेरी थोड़ी-सी पूँजी अज़ीज़ा की धड़कन के इलाज में ख़त्म हो जाती है।

वर्षा के बाद उमस होती है और उमस के बाद वर्षा। वर्षा उमस की पूर्व सूचना होती है और उमस वर्षा की। यहाँ तक कि ये दोनों नटखट बच्चे आँख-मिचौली खेलते हुए घर से बहुत दूर निकल जाते हैं और इसके बाद धूप रह जाती है और नाम अल्लाह का। कुछ दिन तक तो यही लगता है कि अल्लाह का नाम भी नहीं रहा, सिर्फ़ धूप रह गयी है, और उस स्थिति में नन्हा भूरा साईस, बुल्ला चाचा, प्रीतमदास ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट और पलँग के पेंदे में लगी हुई अज़ीज़ा, किसी को आशा नहीं होती कि नर्सरी के पीपल और लसूढ़े मिल कर तालियाँ बजायें और न ही किसी को शीशम के गिरते हुए पत्तों के लिए शोक करने की इच्छा होती है। वनस्पति मौन, पशु-पक्षी मौन और मनुष्य भी मौन हो जाते हैं। जैसे प्रकृति के परीक्षक ने उनसे कोई ऐसा प्रश्न पूछ लिया हो जो पाठ्य-पुस्तक से बाहर का हो। उस समय प्रीतमदास का भयानक डंगू (कुत्ता) और मैं, दोनों

जीभें बाहर निकाले हुए इस गढ़े की ओर लपकते हैं।....गढ़े में वर्षा नहीं, उसकी सुन्दर स्मृति शेष रह जाती है, जिसे देखकर यह स्वर्गिक विचार आता है—कभी वर्षा होती थी, कभी वर्षा होगी!

एक शाम, बैरिकों के लिए फूस लदवा चुकने के बाद जब मैं उस गढ़े के पास आया तो मैंने देखा कि गढ़े के पानी में सैकड़ों छोटे-छोटे दुमदार मेंढक इधर से उधर और उधर से इधर तैर रहे थे और गढ़े के किनारों पर असंख्य लारवे चिमटे हुए थे। कभी कोई लारवा एकदम अपने सागर के तट को छोड़ देता और बेपरवाही से, खिलंदरे पन से अपनी दुम को सिर के साथ लगाता-छोड़ता हुआ बहुत दूर तक पानी में निकल जाता और गढ़े की तह में उगी हुई वनस्पति में बसने वाले कीड़ों के बीच में से होता हुआ फिर अपने ठिकाने को लौट आता। दुमदार मेंढक उन नन्हे-नन्हे झाँजों की तरह बेढंगेपन से क़लाबाज़ियाँ खाते हुए कभी सतह पर चले आते और कभी तह में बैठ जाते। मैंने उसी ठुंठ पर खड़े होकर उन झाँजों की समझ में न आने वाली हरकतों को समझने की कोशिश की। आखिर क्या चीज़ उन्हें यों प्रकट निरुद्देश्य और ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर तैरने को विवश करती है? कौन से शाही भेद सीने में लिये, कौन-सी राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए ये अपनी बस्ती को छोड़ते हैं, फिर लौट आते हैं? फिर विचार आता है, शायद ये लारवे, ये कीटाणु, ये दुमदार मेंढक बिखरे विचार हैं, जो गढ़े के हृदय में उठते हैं। जैसे कभी-कभी बैठे-बैठाये मुझे ख़याल आता है कि कल ढोलन की बड़ी बिट्टो मेरी तरफ़ देखकर मुस्कराती थी, अपनी उँगलियों से सामने के कसाई-घर की दीवार पर कोई निशान बनाती थी....जी हाँ, इस तरह का ख़याल भी तो एक लारवा, एक दुमदार मेंढक ही

तो है, जो अपने विशेष खिलंदरे भाव से तैरने के लिए हृदय के कूल छोड़ देता है और पानी में बहुत दूर, मोठे और अन्य वनस्पति की जल-वाटिकाओं में से होता हुआ पानी की सतह पर आ प्रकट होता है। इसके बाद जब याद आता है कि नन्हे भूरे साईंस ने मेरी पिछले महीने की अठन्नी मार ली है तो मैं उसे नुक़सान पहुँचाने की हज़ारों योजनाएँ बनाता हूँ, लेकिन महसूस करता हूँ कि यह खयाल भी एक झाँजा है, जो तैरता हुआ दूर पानी में निकल जाता है, लेकिन फिर आकर किनारे से चिमट जाता है। मानो किनारा उसके लिए केवल एक-मंज़िल नहीं है, बल्कि एक सत्य है—बिलकुल एक ऐसा सत्य जैसे मेरे मुँह पर खशखशी दाढ़ी! मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि इस दाढ़ी को देखकर ढोलन की बड़ी बिट्टो कभी पसीज नहीं सकती। कभी क़साई-घर की दीवार पर अपनी उँगलियों से निशान नहीं बना सकती। ऐसे ही जैसे मेरी सारी पूँजी अज़ीज़ा की एक व्यर्थ, पुरानी बीमारी पर खत्म हो चुकी है, और इसी कारण मैं कश्मीर देखने के नापाक इरादे को दिमाग़ में घुसने की अनुमति नहीं दे सकता।

जैसे-जैसे दिन बीतते गये, गढ़े में और गन्दगी पैदा होती गयी और उसमें और अधिक अंडे और लारवे पैदा होते गये। मुझे उन भद्दे, बेढंगे, अपूर्ण झाँजों से एक प्रकार का स्नेह हो गया था। मैं उनके लिए अपने मन के किसी कोने में प्रेम का भाव पाने लगा—ऐसा ही प्रेम-भाव, जो मेरे मन में अपने बड़े बेटे फ़खरू के प्रति उत्पन्न होता है या अपनी दूध पीती बच्ची खालिदा के लिए....उस गढ़े में मलेरिया के कीटाणु पल रहे थे, लेकिन मेरा जी चाहता था कि न सिर्फ़ ऑनटेरी मैजिस्ट्रेट और नन्हे भूरे को मलेरिया हो जाय, बल्कि मुझे, अज़ीज़ा और मेरे सब बच्चों को यह बीमारी आ पकड़े।

मुझे उन लारवों से ऐसा ही स्नेह था जैसा अपने अस्तव्यस्त

विचारों से ! अब भी, जब कभी सुबह को ठंडी हवा चलती है तो मैं चारपाई पर लेटा हुआ अपने अस्तव्यस्त विचारों की सहायता से यथार्थ जगत की सारी असम्भव बातों को सम्भव बातों से मिला देता हूँ। जैसे कि मैं सोचता हूँ कि ठीके के सामने कोठी में बसने वाले सीमेन्ट के बादशाह की नौजवान लड़की अपने-आप मेरे पास चली आयी है....या आज मैंने बड़े सरदार साहब की जेबों में से नोटों के सारे बंडल उचक लिये हैं और अज़ीज़ा को साथ लिये एक कार में बैठा कश्मीर की तरफ़ भागा जा रहा हूँ। अब कश्मीर के निशात बाग़ में हूँ। मैं और अज़ीज़ा बड़े-बड़े सुर्ख़ 'गलास' (चेरी) जो डाक्टर ने उसके लिए लाभदायक बताये हैं, खा रहे हैं। हमारी टाँगें पानी में हैं और बर्फ़ीला पानी हमारे पाँव को छूता हुआ दूर, किसी अज्ञात स्थान की ओर जा रहा है। और जिस तरह मैं अपने दिल को मनमाने काम करने के लिए खुला छोड़ देता हूँ, उसी तरह इस गढ़े में लारवों को तैरने से कोई नहीं रोक सकता।

अब, जबकि गढ़े का पानी सूखता जा रहा था, मैं सोचने लगा—इन नर्म-नर्म झाँजों और इन विचारक मेंढक का क्या होगा ? क्या यह चौमासा कभी ख़त्म न होगा ? एक दिन गढ़े का पानी सूख जाने से ये सब ख़त्म हो जायेंगे। जैसे मेरे दिल को कोई पानी से नहीं सींचता। क्या इस गढ़े को भी कोई पानी नहीं देगा ? मैं प्रतिदिन आकाश के किसी कोने में लटके हुए बादल को देखा करता। कभी ऐसा भी होता है कि एक मामूली-सा बादल बादलों की एक सेना के हरावल में आता है।....लेकिन उस दिन कमेटी का दारोग़ा उस गढ़े की ओर आता दिखायी पड़ा। मैंने पास पड़े हुए कनेर के पत्तों से उस गढ़े को ढाँपने का प्रयास किया, लेकिन मक्खी की तरह सफ़ाई का दारोग़ा भी स्वभावतः गन्दगी के समस्त अड्डों से परिचित होता है

और उस दारोग़ा को भी इस गढ़े का पता था। उसके साथ रामू कहार, एक भंगी, नये-नये नौकर, दो युवा हेल्थ विज़िटर—मानव-सभ्यता के लारवे भी आ रहे थे। वे लोग इस गढ़े में लाल दवा फेंक कर समस्त कीटाणु नष्ट करना चाहते थे। मैंने कहा—इसका मतलब यह है कि तुम लोग मेरे फ़खरू को मार डालना चहते हो, मेरी ख़ालिदा को ज़हर देने आये हो....लाओ, तुम्हारा काम मैं आसान किये देता हूँ। मैं मलेरिया के सारे अड्डों को जानता हूँ और पक्के पुल के क्षेत्र में कीटाणुओं को नष्ट करने में मुझसे अधिक कोई भी आपका सहायक सिद्ध न होगा।

युवा हेल्थ विज़िटर ने सन्देहपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा और अन्त में उसने सारी दवाई मेरे हाथ में दे दी कि रोज़ाना सुबह उठते ही उसे सारे गढ़ों में फेंककर उन लारवों को नष्ट कर दिया करूँ। मैंने उन सबको विश्वास दिला दिया। फिर वे चले गये और मैंने वह लाल दवा वाटरवर्क्स की बीस हज़ार गैलेन वाली टंकी में फिंकवा दी।

मैं रोज़ की तरह 'हरेके' की ओर से आने वाली सड़क के पास पुल पर टाँगें लटकाये उस गढ़े के पास बैठा था और मच्छर मेरे सिर पर सुरीली तानें अलापते हुए उड़ रहे थे। मैं नहीं जानता कि वे निरीह प्राणी अपनी भाषा में क्या और कौन-सा राग अलाप रहे थे। शायद वे कह रहे थे—ऐ अल्लाह के नेक बन्दे! तूने हमारी सन्तान की देख-भाल की है, हम तेरी सन्तान की देख-भाल करेंगे और उन्हें जल्द ही इस दुनिया के जेलख़ाने से मुक्ति दिलवा देंगे, यानी मलेरिया के सब से स्वस्थ कीटाणु फ़खरू और ख़ालिदा के शरीर में दाख़िल करेंगे। मैंने जवाब में कहा—ऐ मेरे प्यारे मच्छरो! मैंने तुम्हारी सन्तान की

रक्षा करके तुम पर कोई एहसान नहीं किया, बल्कि एक मामूली इन्सानी फ़र्ज़ अदा किया है।

गर्मियों के आरम्भ में छावनी के हेड क्वार्टर्स डलहौज़ी जा चुके थे और अंग्रेज़ी रेजिमेन्ट के भी आधे से ज़्यादा सिपाही डगशाई और लोअर टोपा पहुँच गये थे। उन दिनों नन्हे भूरे का बेकार टट्टू पूरे दिन थान पर बँधा रहता और हर रोज़ दोपहर को लगभग एक बजे ज़ोर-ज़ोर हिनहिनाया करता। शायद वह उस कष्टप्रद नमदे वाले जुए को याद करता था, जो कुछ दिनों से उसके कंधे पर नहीं डाला गया था। नन्हे भूरे का टट्टू इन बेकारी के दिनों में या तो बार-बार बेशाब किया करता या अपनी पिछाड़ी से लीद को चारों ओर बिखेर देता। इसके अतिरिक्त उसे अज़ीज़ा की दोनों बकरियों से अकारण ही वैर था। उन बकरियों के नाम गंगी और जमुनी थे और उन्हें अज़ीज़ा ग़ाज़ियाबाद से दहेज़ में लायी थी। जब गंगी और जमुनी अपने गले के घुंघरुओं को बजाती हुई मन्द गति से उसके पास से गुज़रतीं तो वह अपनी टाँगों को हवा में उछालने और रस्सा तुड़ाने लगता। वह अपने शरीर को कष्ट देने वाली मक्खियों की जगह निरीह बकरियों को अपना शत्रु समझ लेता। टाँगें हवा में उछालने से बिखरी हुई लीद में बसने वाले सारे मच्छर उड़ने लगते और केहरू भंगी उन मच्छरों को भगाने के लिए तुरन्त अमलतास और शीशम के सूखे हुए पत्तों में आग लगाकर गहरा धुआँ पैदा कर देता। पेशाब और लीद की दुर्गन्ध, मच्छरों की घों-घों और धुएँ की घुटन से अज़ीज़ा का दिल और भी डूबने लगता।

जब वर्षा के देवता ने मेरी प्रार्थना अस्वीकार कर दी और गढ़ा अधिक सूख गया तो मुझे एक तरकीब सूझी। मैंने पचासी बँगले के माली से खुरपी माँगी और नन्हे भूरे के टट्टू की नाँद से लेकर उस

गढ़े तक एक नाली बनायी और साफ़ ताज़ा पानी को नाली में उँडेल दिया।....गढ़ा फिर लबालब भर गया। मैं फिर शाम को ताड़ी लेकर गढ़े के पास जा बैठा और खाँसते हुए लारवों की गतिविधि को देखने लगा। मैंने देखा कि इस ताज़ा और स्वच्छ जल ने एक ही दिन में लारवों को इतना दुर्बल कर दिया है कि वह गढ़े के किनारों से जुदा नहीं होते और न ही उनमें वह पहली-सी चुस्ती और खिलंदरापन रहा है।

उन दिनों ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट कश्मीर जा रहा था और उसकी छोटी पत्नी अज़ीज़ा को संगिनी के रूप में साथ ले जाना चाहती थी। मैं वस्तुस्थिति से परिचित था और जानता था कि वह अज़ीज़ा को सेविका के रूप में रखना चाहती है। लेकिन मैं इस बात के लिए तुरन्त राज़ी हो गया, सिर्फ़ इसलिए कि वे सपने, जिन्हें मैं अभी तक अपनी ज़िन्दगी में साकार होते नहीं देख सका, अपनी अज़ीज़ा के जीवन में पूरे होते देख लूँ। इसके अतिरिक्त ठंडी हवा और निर्मल जल मिलने से अज़ीज़ा का स्वास्थ्य भी अच्छा हो जायेगा। केवल रास्ते के ऊँच-नीच के कारण उसका दिल डूबने की आशंका थी। लेकिन मैजिस्ट्रेट की अपनी कार थी। मुझे विश्वास दिलाया गया कि वे लोग उसे बड़े आराम से कश्मीर ले जायेंगे। मैंने एक अधूरी-सी खुशी में गंगी और जमुनी दोनों को बेच दिया और उन पैसों से अज़ीज़ा के लिए कुछ-कपड़े लत्ते और एक कम्बल खरीद लिया और उन लोगों के साथ उसे कश्मीर रवाना कर दिया।

मुझ जैसे लोग, जो अपनी कल्पना की सहायता से गन्दे गढ़ों में ही सुन्दर झीलें देख लेते हैं, नियति भी उन्हें गन्दे गढ़ों से परे जाने की शक्ति नहीं प्रदान करती....उस समय, जब अज़ीज़ा कश्मीर की ठंडी हवा खा रही होगी, मैं इस गढ़े के पास बैठा होऊँगा। काम के समय का अधिकांश इस गढ़े के पास ही बिताता था। लेकिन साफ़

पानी के कारण पहले झाँजे मर चुके थे। पचासी बँगले के माली ने मुझे बताया कि पानी के बासी और गन्दे हो जाने से और कीड़े पैदा हो जायेंगे और दुमदार मेंढकों में भी वही पहली-सी चुस्ती आ जायगी। नन्हें भूरे के टट्टू का पेशाब भी उसी नाली के रास्ते से गढ़े में आने लगा।

और एक दिन मेरी खुशी का ठिकाना न रहा जब मैंने फिर मेंढकों, और लारवों को पानी में इधर से उधर और उधर से इधर अपने विशेष, बेढंगेपन से तैरते हुए देखा। पानी के बासी हो जाने से गढ़े में एक बार फिर रौनक़ पैदा हो गयी और मैं कुछ संतुष्ट-सा खाट पर लेटकर ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिलाने लगा।

धूप इतनी तेज़ हो चुकी थी और उमस इस ग़ज़ब की थी कि पुल के चारों ओर का सारा क्षेत्र खुम्बों से भर गया। लेकिन उस दिन से मैंने कभी आसमान की तरफ़ बारिश के लिए नहीं देखा। मैं जानता था कि आसमान से ताज़ा पानी पड़ते ही ये कीड़े मर जायेंगे और जब तक यह पानी फिर बासी और गन्दा न होगा, और लारवे पैदा न होंगे।

दूसरे दिन बड़ी मूसलाधार वर्षा हुई। उस समय मैं बिलकुल अकेला अपनी झोंपड़ी में बैठा अपना फटा हुआ पायजामा सी रहा था और सोच रहा था कि लाला का दो महीने का बिल कैसे अदा होगा कि बाहर किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। मैंने तुरन्त उठकर दरवाज़ा खोला। मेरे सामने तार का हरकारा था। उसकी उम्र तीस-पैंतीस वर्ष के लगभग होगी। चेहरे के काले रंग में से दो लाल रंग के डोरों से भरी हुई आँखें फटी पड़ती थीं। उसकी खाकी वर्दी वर्षा में पूरी भीग चुकी थी और पानी की बूँदें उसकी कनपटियों से होते हुए दाढ़ी के बालों से बूँद-बूँद करके टपक रही थीं। एक उँगली से चेहरा पोंछने के बाद उसने खाकी कोट के नीचे से एक भीगा हुआ लिफ़ाफ़ा

निकाला और बोला, "मियाँ अज़ीज़ुद्दीन ठीकेदार के मुख्तार आप हैं ?"

मैंने बिना जवाब दिये उस भीगे हुए लिफ़ाफ़े को हाथ में लेकर खोला। तार प्रीतमदास की तरफ़ से था। लिखा था :

"अज़ीज़ा को पहाड़ का स्वस्थ जल माफ़िक नहीं आया। उसे कल हिल डायरिया (पहाड़ी पेचिश) की शिकायत हुई और आज अचानक सुबह के सात बजे वह मर गयी। तुम्हारा एक दिन में पहुँचना मुश्किल है, इसलिए मैं डाक्टर का सर्टीफ़िकेट लेकर उसे दफ़ना रहा हूँ। तार द्वारा अपनी स्वीकृति भेजो !"

मेरे दिमाग़ ने इस दुर्घटना की सूचना को स्वीकार न किया। मैंने दरवाज़े तक पहुँचते हुए सिर्फ़ इतना कहा—"ऐ ख़ुदा, तू अपनी बारिश को रोक ले।"

दीवाला

रुपमती, मेरी ननद, जवान हो चुकी थी। उसकी जवानी का प्रमाण शरीर ही न था, उसके लच्छन भी थे। वह उसका चौंक-चौंक-कर बात करना, अकारण हँसना, बे-वजह उदास रहना, संदेह करना और फिर सबसे बड़ी बात, अनावश्यक गोपनीयता।

मुझे दुनिया कभी अचम्भे की बात न मालूम हुई और न ही इसमें कोई बड़ा भेद दिखायी दिया। हाँ, बारह-साढ़े बारह की थी, जब मेरा विवाह हो गया और मैं मन्दिरों की इस बस्ती, देवलनगरी, चली आयी....यह नीचे चूने गच्च में जो गोल-गोल शीशे टँके हैं और साज की लकड़ी का बड़ा फाटक है, सब तभी बना था। हाँ, लोहे के ये मोटे-मोटे कीले बाद में गाड़े गये थे। और दरवाज़े पर गणेश जी की मूर्ति ? यह भी बाद ही में बनी थी।

मैं यहीं 'हवा महल' के इस छज्जे में बैठी थी। होंठों का लाखा-लखूटा मुझे स्वयं बुरा लग रहा था, लेकिन ससुर, जेठ आदि सभी पीढ़ी पर गये थे, दद्दा भी मन्दिर से नहीं लौटी थीं। 'ये' भी शहर में न थे, इतना ही पता था कि देश भर की रेंड़ी क़ब्ज़े में करने गये हैं।

एक बार उस पर अधिकार जम गया, तो अपना घर सोने की ईंटों से भर जायेगा, यद्यपि बहुत-सों के दीवाले निकल जायेंगे....

खाता-पीता घर, यहाँ सभी फ़ैशन के लिए काम करते थे। खाने-पकाने के अतिरिक्त और क्या था—सवेरा होता तो हम सोचतीं, क्या पकेगा? दोपहर थोड़े कपड़े इधर-उधर फेंकने के बाद, शाम क्या पकेगा? कोई पूछे, घूम-फिरकर अरहर और उरद पर ही पहुँचना है तो यह चिन्ता कैसी? वही रोज़ की बातें, रोज़ के व्यक्ति। सास मेरी देखने में बुरी नहीं, लेकिन कभी भंगिन ही उससे अच्छी लगने लगती। इसलिए जब घर से जी भर जाता तो मैं यहाँ आ बैठती। तुमने देखा है न, बालू की माँ, यह बारजा नीचे से योंही-सा लगता है। लेकिन यह है रामायण का पुष्पक विमान, एक अठकलिया कमल, लाल सीमेंट का जिसे थामे खड़ा है। घर की ओर पीठ करके देखो तो नीचे बाज़ार में सब आर-जार दिखायी पड़ती है—भंगी, चमार, खाद के नये कारखाने में काम करने वाले मज़दूर—यों ग़रीब, पर शरीर पर मेहनत का आनन्द, चेहरे पर अच्छे स्वास्थ्य की चमक, सीना ताने हुए यों मालूम होते हैं, जैसे कोई चट्टान फोड़ने जा रहे हैं। इस बात की भी परवाह नहीं कि मजूरी मिलेगी या न मिलेगी। फिर इक्के वाले, जिनकी छाती के तसलों में गालियाँ ही उबलती रहती हैं, दूसरों को कम ही देते हैं, अपने जानवरों को ज़्यादा, अपने-आप को सबसे ज़्यादा और इस पर बड़े खुश, मारा-मारी करते जा रहे हैं. तेज़-तेज़, जैसे सवेरा पूरब से किरणें फेंकते हुए उमड़ता है, इधर छाँटा, उधर चाबुक, लोग यों इधर-इधर भागते हैं, जैसे रात का अपराध दिन होते ही कोठिरियों, मैले-कुचैले कपड़ों और नालियों में जा छिपता है। मुनीम, दल्लाल, सट्टेबाज़ धोती का पल्लू समेटे हुए एक तरफ़ हो जाते हैं। लेकिन जो बीच सड़क के जा रही हैं, अपनी लज़ाइनें, हर वक्त बैठे रहने से जिनके पेट में हवा और

पीछे मांस के लौंदे चले आते हैं, जैसे किसी ने बड़े-बड़े तकिये बाँध दिये हों। चलती हैं तो पीछे से 'बुद्धवीर-बुद्धवीर' का जाप होता है, प्रसाद की थाली हाथ में, पांडे जी साथ में, दुनिया-जहान से बेखबर, नाममात्र का घूँघट काढ़े, पता नहीं किस मन्दिर को जा रही हैं। बड़े-से-बड़ा लोहे का डण्डा भी उनके रास्ते के पत्थरों को नहीं हटा सकता। फिर अपनी जात-बिरादरी के सेठ, जात-बाहर के व्यौपारी, जिनकी हड्डियों तक में पानी पड़ गया है, बीच रानों के थैलियाँ, जिनकी डोरियाँ तक कमर में बँधी दिख रही हैं, तिस पर भी छोकरियों को घूर रहे हैं। घूरते मुश्टण्डे भी हैं, लेकिन एक की निगाह में पिल पड़ने वाला प्यार और आशा, दूसरे की नज़रों में घिन, निराशा। छोकरियाँ भी तो इनसे नहीं शर्मातीं, शर्मायें किनसे ?

ऐसी बातें देखके जी और घबरा जाता है। फिर मैं सामने देख लेती हूँ। पूरा मारवाड़ दिखायी पड़ता है। पत्थर-ही-पत्थर, रेत-ही-रेत, सूरज की रोशनी आड़ी पड़ती है तो रेत की कनी-कनी दमक उठती है। मालूम होता है, अनगिनत मोहरें पड़ी हैं, उठा लो और अन्दर-बाहर सब भर लो। देश भर का सोना-रूपा इसी धरती में चला आया है। बस यही झूठी चमक-दमक है। हरियाली कहीं भी नहीं, कहीं कोई झाड़ी या दूब दिखायी दे जाती है, किन्तु पेड़ नाम को नहीं। दूर विन्ध्या के आँगन में कोई टिनसा का पेड़ खड़ा है या चम्बल के किनारे बजासल सिर हिला रहा है। वह भी नीचे से ठुण्ड-मुण्ड। ऊपर एक गुफ्फा-सा है। वही दिल की धड़कन तेज़ कर रहा है। मैं तो कहती हूँ कोई हमारा सोना ले-ले और हरियाली दे दे....

मानमती, मेरी सास, मुझे सदैव यहाँ बैठने से मना करती है। किन्तु जब भी मैं यहाँ बैठती हूँ, ज़िद के साथ, ठेंगे की तरह। उसका कहना है, खिड़की में बैठना काम नहीं बहू-बेटी का, खिड़की में बैठती

है तो गंगा। मैं कहती हूँ, यही हिसाब है तो फिर हमारी तरह सभी घरेलू स्त्रियाँ गंगा वेश्या हैं। हमें खिड़की-झरोखा भी न मिले तो उमस से मर जायें। है न, बालू की माँ? खिड़की के लिए औरत हो, न हो, औरत के लिए खिड़की बड़ी ज़रूरी है।

लेकिन उस दिन हमें कौन टोक सकता था? गोकुलाष्टमी का दिन था। गोपियों के नाथ आज के दिन जन्मे थे। 'राधा बाज़ार' में बड़ी गहमागहमी थी। राम-राम! सारी लोकाई उमंग की तरह बाहर चली आयी थी और तरंग की तरह नाचती, गाती, बल खाती जा रही थी....साँवलदास के मन्दिर की ओर। इसमें स्त्रियाँ भी बहुत थीं, जैसे इनके बिना सब अधूरा है, धक्के पड़ते तो बुरा-बुरा मुँह बनातीं, ऊपर से गालियाँ देतीं, बहुतेरी खुश, ऐसा न होता तो बाहर ही क्यों निकलतीं? यह अजीब बात है। हम स्त्रियाँ जिस बात को पसन्द नहीं करतीं, अन्त में वही करती हैं। हो सकता है, मैं ग़लत कह रही हूँ। लेकिन हमारे मन का पसारा अनोखा अवश्य है। मर्दों को इस बात का क्या पता? वे तो सारा पढ़-लिखकर भी जांगलू ही रहते हैं। बस सीधे अमुक काम करो, नहीं तो हम जान से मार देंगे! या खबरदार जो सावित्री के साथ मड़ुवे को गयीं। वह अच्छी औरत नहीं, होटलों में जाती है। नहीं जानते, जितनी देर में उनके मन में एक विचार आता है, हमारे मन से बीसों हो के निकल जाते हैं। हाँ, तो उस दिन सब स्त्रियाँ खिड़कियों में चली आयीं। जड़त-मड़त, रंग, बाँकड़ी और गहनों की प्रदर्शिनी थी। सब विचित्र भावों से नीचे बाज़ार में देख रही थीं—पल्लू सिर से हटे हुए, चोटियाँ नीचे को लटकती हुईं, यों मालूम होता था, जैसे सीढ़ियाँ हैं, जो घर के भेदी ने बाहर लटका रखी हैं, ताकि बाहर का चोर उनके सहारे चला आये और आँखों की खिड़की से अन्दर कूद पड़े। फिर क्या है? सामने तिजोरी पड़ी है, ताली घरवालों के पास

है, साहस है तो तोड़ ले....

कहाँ तो मैं अकेले ही बैठी थी, कहाँ रूपमती, सास, दद्दा, सभी आ गयीं। जभी पता चला, दद्दा तो कब से आयी बैठी हैं। अन्दर के मन्दिर में घण्टी बज रही थी। दद्दा और सास, दोनों बाहर देख रही थीं, लेकिन चेहरे पर कोई असर नहीं, मुँह बैरंग लिफ़ाफ़े की तरह थे, पैसे दो और छुड़ा लो; नहीं भेजनेवाले को वापस। हाँ रूपो का मुँह खुला था। मैंने कहा, "रूपो ! तू इधर आ जा, मेरे पास।"

बोली, "नहीं भाभी मैं ठीक हूँ।"

पीछे से दद्दा बोलीं, "अरे ! प्यार से बुलाती है, जाती क्यों नहीं ?"

रूपो ने संदेहपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा, जैसे मुझे उसकी किसी बात का पता चल जायेगा। मैंने यों देखा, जैसे नहीं चलेगा और वह उठकर मेरे पास आ गयी। मैंने अपनी बाँह में जो उसे जकड़ा, तो पता चला कि उसके कूल्हे कितने बड़े हो गये हैं। एक साल पहले यही रूपो कुछ भी नहीं थी। अब सभी कुछ है। अभी मैंने उससे प्यार की एक बात भी न की थी कि सास की आवाज़ आयी, "बहू सिर ढँक अपना, कैसे बैठी है !"

मैंने उसी दम अपना हाथ खींच लिया और सिर ढँकने लगी। मैं तुमसे सच कहती हूँ, बालू की माँ मुझे पता न था कि मेरे सिर पर कपड़ा नहीं है, नंगी ही बैठी हूँ, उन स्त्रियों की तरह, जो सामने बारजे में खड़ी थीं और तन-मन सभी को हवा लगा रही थीं। मैं फिर दोनों हाथ यहाँ खिड़की में टिका, उनपर ठोड़ी रखे नीचे देखने लगी।

नीचे स्त्रियाँ तो अब कहीं-कहीं थीं, पुरुष-ही-पुरुष थे चारों ओर। कोई लम्बा, कोई नाटा, कोई छोटा, कोई मोटा, किसी ने दाढ़ी बढ़ा रखी है तो कोई सफ़ाचट, लेकिन सिर के बालों के घूँघर बना, कन्धे पर

फेंक रखे हैं। कोई पान खा रहा है और थूक रहा है। कोई बीड़ी की राख चुटकी से गिराता है। कोई लड़ता है, कोई गाली खाता है, लेकिन ऊपर को सब देख लेते हैं, बिजली के तारों की तरफ़....

उस साल कुछ ज़्यादा ही आदमी थे। एक दम ये इतने कहाँ से चले आये? फिर मैंने सोचा, आख़िर माओं ने ही जने हैं। आसमान से तो नहीं टपक पड़े....बीच में एक ठठ-सा बँधा था और बाक़ी सब-के-सब उसके चारों ओर घेरा बनाकर खड़े थे। उनके सिरों पर कोई सात गज़ की ऊँचाई पर एक रस्सी लटक रही थी, जिसका एक सिरा रंगड़ों के घर और दूसरा छेंदवाड़े के सेठ के यहाँ बँधा था और उस रस्सी के सहारे बाज़ार के बीचोंबीच मटकी लटक रही थी, यह वही मटकी थी, जिसमें माता जसोदा मक्खन रख दिया करती थीं, और ऊपर टाँग देती थीं। वे समझती थीं, नटखट उस तक नहीं पहुँच पायेगा, लेकिन वह अपने साथियों के कन्धों पर चढ़कर पहुँच ही जाता था....

तो उस घेरे में से निकलकर कुछ आदमियों ने दूसरों के कन्धों पर चढ़ना आरम्भ कर दिया। और फिर एक दूसरे के गले में बाहें डाल, अन्दर की तरफ़ मुँह करके खड़े हो गये। फिर दूसरा दल आया, तीन आदमियों का, और पहले छै आदमियों के कन्धों पर चढ़कर खड़ा हो गया। आख़िरी भीड़ में से सांवले रंग का एक नौजवान लड़का निकला और फुर्ती से बाक़ी सब के कंधों पर यों चढ़ गया, जैसे वे आदमी नहीं, सीढ़ियाँ हों। शिखर पर पहुँचकर वह खड़ा हो गया। उसकी कमीज़ मैली थी और उस पर रंग गिरा हुआ था, बटन खुले थे....मैं तो तुमसे सब बात कर सकती हूँ, बालू की माँ, जैसे तुम मुझसे कर लेती हो। मेरा दिल धड़क उठा, इसलिए भी कि उसके पाँव अभी नहीं जमे थे, वह गिर भी सकता था। एकदम उसके पाँव थर्राये और वह झुक गया और फिर उसी दम तन के खड़ा हो गया। अब उसके पाँव जम

चुके थे....

लोगों में एक शोर-सा मच गया। वहाँ खड़े होते ही उस लड़के ने सीधे इस तरफ़ देखा, जहाँ मैं बैठी थी। एक बिजली-सी मेरे शरीर में दौड़ गयी। फिर उस लड़के ने दोनों हाथों के पंजे एक दूसरे में गाड़ दिये और सिर के ऊपर उठा, हाथ हिलाये काँपा, सम्हला....मुझे यों लग रहा था, जैसे ख़ून मेरे मुँह को आ रहा है। मेरी कनपटियाँ तक काँपने लगीं। अन्त में उसने एक हाथ ऊपर करके मटकी थाम ली। लोगों में खुशी की एक लहर दौड़ गयी। वह मटकी तक पहुँच गया था। अब उसने दोनों हाथों में उसे थाम रखा था। उसने फिर इस तरफ देखा, जहाँ मैं बैठी थी, रूपो बैठी थी, सास और दद्दा बैठी थीं। मुझे ऐसा लगा, जैसे वह मेरी तरफ़ देखकर मुस्करा रहा है। जैसे वह मुझे जानता है, मैंने उसे कहीं देखा है, लेकिन जाने कितनी पुरानी बात है, जिसमें समय ने चित्र धो डाला है, रेखाएँ सी रह गयी हैं....

मैंने चोर-नज़र से रूपो की ओर देखा। वह अभी तक मुँह खोले बैठी थी, जैसे बच्चे तमाशे में मुँह खोलकर बैठते हैं। मुझे यों लग रहा था, जैसे मेरा बदन जल रहा है। उसमें से सेंक निकल रही है और आस-पास बैठी स्त्रियों को लग रही है। मुझे विश्वास है, मुझसे दुर्गन्ध उठ रही होगी, किन्तु किसी ने कुछ कहा नहीं। अब तक मेरी जेठानी भी आ बैठी थी। एक मैं थी, जिसके यहाँ लाख जतन करने पर भी कोई बच्चा न हुआ और एक वह थी, हर साल जिसके हो जाता था और जिसे वहम की बीमारी हो गयी थी। एक मैं थी, जिसे कोई चीज़ गन्दी न दिखायी देती थी और एक वह, जिसे हर चीज़ गन्दगी से पटी मालूम होती थी। हर वक्त हाथ, मुँह, कपड़े धोती रहती, खास कर नल, अब भी वह नल को राख से मांजकर हाथ धोती

हुई चली आयी थी। हाथ तौलिये से न पोंछे थे, क्योंकि घर में हर आता-जाता उसी तौलिये का उपयोग करता था। आकर उसने गीले हाथ जो झटके, तो पानी के छींटे मुझपर पड़े, यों लगा, जैसे ओड़ लगी ज़मीन पर बरखा की पहली बूँदें पड़ी हों।

मैंने मुड़कर देखा, रूपो जा चुकी थी। शायद मेरे पास बैठकर उसे सेंक लग रही थी। या फिर वही उसकी भेद-भरी हरकतें! कभी पता न चला उसका, अगले दिन क्या करेगी। संयोग से नज़र नीचे गयी तो वह उसी साज के फाटक के बाहर खड़ी थी और अष्टमी के जुलूस को देख रही थी, जिसमें वह लड़का लम्बे-लम्बे हाथ डालकर मटकी के पानी को बाहर गिरा रहा था। फिर वह हाथ मार-मारकर उसे तोड़ने लगा। किन्तु वह मटकी जाने किस मिट्टी से बनी थी, टूटती ही न थी, अन्त में वह उसे मुक्के मारने लगा; जब इस पर भी न टूटी, तो उसने मटकी में अपना सिर मारना शुरू कर दिया। मुझे जाने क्या हुआ, मेरी आँखें आप-से-आप बन्द हो गयीं। फिर थोड़ा खुलीं, तो वह अभी तक सिर मार रहा था। इससे पहले कि मैं फिर आँखें मूँद लेती, मटकी फूट चुकी थी और लोग शोर मचा रहे थे।

लड़के ने चारों तरफ़ देखा। उसके सिर को ज़रूर कुछ चोट लगी थी, लेकिन चेहरे से उसने कोई बात ज़ाहिर न होने दी। उसने जेब से एक मैला कुचैला रूमाल निकाला और गर्दन पोंछ ली। फिर वह अपने-आप झुक गया और हौले-हौले नीचे उतरने लगा। उसके पाँव काँप रहे थे। नीचे के घेरे पर पहुँचकर वह लड़खड़ा गया। वह गिरा....मैं लपकी, लेकिन अनगिनत लोगों ने हाथ फैलाकर उसे बचा लिया। दद्दा ने मेरी तरफ़ देखा और हँस दीं। सास ने नाक-भौं चढ़ायी। मैं वहीं बैठी रह गयी। नीचे देखा, तो वह लड़का कहीं भीड़ में गुम हो चुका था। मैं यों ही मूर्खों की तरह उस तरफ़ देखती रही।

जी चाहता था, नीचे लपक जाऊँ और उसे ढूँढ-ढाँढ के पूछूँ, कहीं बहुत तो नहीं लगी ? लेकिन....मैं यहाँ से एकदम कैसे जा सकती थी बाहर ? शताब्दियों की बनी रस्म को पल भर में कैसे तोड़ देती....मन को मार के यहीं बैठी रही और सोचती रही।

रात आ गयी, अष्टमी की रात। मेरा मन तब तक बहुत बोझिल हो चुका था। तिनका तोड़ दोहरा न किया था, पर इतना थक गयी थी कि बस....आज घर में एक चीज़ काम की हुई और वह यह कि अरहर की दाल न पकी थी और न उरद, न कढ़ी। मेरी जेठानी ने कटहल की वह प्यारी सब्ज़ी पकायी थी कि ज़बान से अलग न होती थी, बिलकुल गोश्त का स्वाद था। हाँ, बालू की माँ, तुमसे क्या छिपाना ? मैंने गोश्त खाया है। चोरी-चोरी कई बार खाया है।

रूपो आ गयी। वैसे ही अकारण हँसती हुई। यहाँ बिस्तर से उठना दूभर हो रहा था, किन्तु वह थी कि अपने हल्के पाँव पर इधर-से-उधर, उधर-से-इधर फिसलती जा रही थी, इतनी चहक उसमें कहाँ से चली आयी, मेरी ओर शरारत से देखकर मुस्करायी और बोली, "भैया कब आने वाले हैं, छोटी भाभी ?"

मैंने कहा, "क्यों ?"

रूपो समझती थी कि उसके भाई के नाम पर मैं शरमा जाऊँगी, जैसे दूसरी स्त्रियाँ अपने पति के नाम पर शरमा जाती हैं। लेकिन, हमारा ब्याह कोई नयी बात न था और शरमाने की इतनी बात ही कहाँ रही थी ?

रूपो बोली, "पता भी है, आज हिंडोले हैं ? वह झोंटा देती कि आसमान से जा लगतीं।

"उँह" मैंने मुँह बनाकर कहा और चुप हो गयी।

रूपो जन्माष्टमी के दिन मुझे और अपने भैया को झूले में बैठा

कर बड़ी प्रसन्न होती थी, पता नहीं, उसे क्या मज़ा आता था। शायद वह समझती होगी कि राधेश्याम की जोड़ी है। जब कहीं लम्बा और तेज़ झोंटा देती तो मैं डरकर 'इनसे' चिमट जाती और रूपो देखकर बहुत हँसती। बीच में मैं दो-एक बार गिर गयी और ये मुझे थाम न सके। मेरी जेठानी के बच्चों ने बेर खा-खाकर गुठलियाँ जगह-जगह फेंक रखी थीं। एक मेरे सिर में घुस गयी। तब से मैंने झूले-हिंडोले पर बैठना ही छोड़ दिया। बैठी भी तो इनका सहारा लेने के बदले रस्सी थाम लेती, जिससे रूपा के सारे तमाशे का अन्त हो गया।

रूपा बैठी रही और तरह-तरह की शरारतें करती रही। कभी वह मीरा के भजन गाने लगती, कभी बाजे में फ़िल्मी रिकार्ड लगा देती और ताली बजा-बजाकर साथ नाचने लगती। आज वह बहुत प्रसन्न थी....तब तक 'इनके' पिता और बड़े भाई आ गये थे। मैं जानती थी, दद्दा, सास और जेठानी हिंडोले देखने की तैयारी कर रही थीं। मैं सोच रही थी, अब साँवलदास के देवल जाने के लिए किसी ने कहा तो क्या बहाना करूँगी? तभी मुझे उस लड़के का खयाल आ गया, जिसने मटकी फोड़ी थी।

"रूपो तूने देखा था आज का जुलूस।"

रूपो ने एकदम चौंककर मेरी ओर देखा और बोली, "हाँ भाभी!"

मैंने पूछा, "और वह त्रिपाली देखी थी?"

रूपा बोली, "हाँ!"

"और वह लड़का?"

रूपो ने पहले इनकार में सिर हिला दिया और फिर स्वीकार में। वह इतनी जल्दी में थी कि कुछ निर्णय ही न कर पायी। उसने तेज़ नज़र से मुझको देखा और चुप खड़ी रह गयी।

मैं कुछ न समझी। उलटा पूछने लगी, "कौन लड़का भला?"

रूपो ने मुँह दूसरी तरफ़ करते हुए कहा "मुझे क्या मालूम ?"

"अरे वही !" मैं बोली, "मटकी-फोड़ ।"

और केवल रूपो को छेड़ने के लिए मैंने कह दिया, "कैसे तुम्हारी तरफ़ देख-देखकर हाथ हिलाता था । संकेत करता था, जैसे अच्छी तरह जानता हो ।" मैं चाहती थी, रूपो मुझे छेड़े, मुझसे कहे, 'वह तुम्हें बुला रहा था, भाभी ।'....किन्तु रूपो चुप रही, न सिर्फ चुप.... उसकी साँस तेज़ हो गयी । उसने फिर मुझे देखा, जैसे मेरे अन्दर की कोई चीज़ टटोल रही हो । एक पल के लिए तो मैं भी घबरा गयी । पर मैंने सोचा कि मैंने क्या किया है, जो खाह-म-खाह की चोर बनूँ । मैंने दिलेरी से रूपो को और बनाना शुरू किया । जब वह बहुत घबरायी, तो मैं समझी, इसकी तो आदत है । मुझे क्या पता, आज क्या होने वाला है, मैंने मुस्कुराते, सिर हिलाते हुए कहा, "कैसे सिर मार-मार के मटकी फोड़ी थी उसने ।"

रूपो उसी तरह उठ खड़ी हुई और जाने लगी । मैंने देखा, बग़ल से उसकी धोती फटी हुई थी और उस पर कुछ खून के धब्बे थे....रूपो साल भर से औरत हो गयी थी । मैंने मन-ही-मन कहा, 'वह फिर शुरू हो गया है और यह फूहड़ नहीं जानती ।'

"धोती तो बदल कुतिया !" मैंने शब्दों को थोड़ा चबाते हुए कहा "फटी पड़ी है, सब खून लगा है ।"

रूपो कुछ मुड़ी और धोती में फटी हुई जगह और खून के निशानों को छिपाते हुए हड़बड़ाकर बाहर निकल गयी ।

मैंने इस घटना को कोई महत्व नहीं दिया । ऐसा तो लगभग सबके साथ होता है, जब वे स्त्री बनती हैं । हौले-हौले वे अपने आप को सम्हालना सीख लेती हैं । कई तब भी फूहड़ रहती हैं....मैंने सोचा यह भी फूहड़ ही रहेगी । रूपो !

रात जो कुछ हुआ, उससे मुझे पता चला, यह सब जादू 'कुतिया' के शब्द ने जगाया है। मुझे क्या मालूम, बालू की माँ, तू तो जानती है, हम योंही प्यार से भी एक-दूसरे को कुतिया कहा करती हैं। मेरा यह मतलब थोड़ी था। हम हिंडोले पर गये। रुपये-पैसे, सोने-चाँदी की हमारे देश में क्या कमी ? कंजूस लोग, पैसे-पैसे के लिए मरने वाले.... शादी-ब्याह, तीज-त्योहार पर सब कोनों-अँतरों में पड़ी पूँजी उठा लाते हैं और बीच चौराहे रख देते हैं, जैसे कह रहे हों, देखो....देखो, और जलो। मैं कीर्तिदास हूँ, जिसकी धनबाद में कोयले की तीन खानें हैं, कलकत्ते में रबड़ और प्लास्टर का सबसे बड़ा कारखाना है, बम्बई में काटन ग्रेन के गोदाम अपनी रुई से भरे पड़े हैं....

तो साँवलदास के देवल में लाखों का चढावा चढ़ गया। मेरे ससुर ने मूर्तियों पर सोने का पत्र जड़वा दिया और श्यामसुन्दर की आँखों में बड़े-बड़े नीलम लगवा दिये....

मैं यद्यपि थकी-हारी थी, किन्तु साथ चली गयी, यों ही....एक आशा के साथ। और कुछ नहीं तो चहल-पहल देख लूँगी। घर में क्या रखा है। पड़ी रही, तो अपने-आपको खा जाऊँगी। वहाँ भीड़ में सिवा दो-चार धक्कों के कुछ न मिला....और उसके बाद हम घर चले आये। रूपा नहीं आयी थी। सब खुशामद करते रहे, पर रूपा ने एक ही ना पकड़ ली थी। सब जानते थे, यह ऐसा ही करती है। इसलिए सारी परवाह के होते हुए फिर किसी ने परवाह न की।

लौटते समय और घर पहुँचकर मैंने बार-बार सोचा, ये ही आ जायें। किन्तु इन्हें क्या पड़ी थी। इन्हें तो देश भर की रेंड़ी चाहिए, दुनिया भर की दौलत, पैसे और पैसे के अतिरिक्त न इन्होंने कुछ सोचा, न इनके बाप-दादा ने। हमारी कितनी इच्छा होती है बालू की माँ, हम अपने पति के साथ बाहर जायें। मैं तो कहती हूँ, इस बात में पति-प्रेम

भी इतना नहीं होता, जितना यह विचार होता है कि बाहर जायें, अपने-आपको दिखायें, और जब कोई देखे तो अपने ही आदमी के कन्धे पर हाथ रख लें और कहें, भगवान ने सब दिया है, तुम क्या समझते हो ? तुम बैठे ठंड़ी-ठंडी साँसें लो, आहें भरो....जलो, मरो....

हाँ, हम इतना हार-शृङ्गार, गहने-कपड़े क्यों पहनती हैं ? इसीलिए ना कि कोई देखे, किन्तु हाथ न बढ़ाये और फिर इस सारी अस्वीकृति में स्वीकृति छिपी है। मन के किसी कोने में एक चीज़ पड़ी रहती है, जो आते-जाते मनचले की हिम्मत को ललकारती है....

घर आते ही मैं सीधी अपने कमरे में चली गयी। अन्दर से दरवाज़ा बन्द करके मैंने सब कपड़े उतार दिये और आईने में अपने-आपको देखने लगी, कभी इधर से कभी उधर से। फिर बत्ती बुझाकर ऐसे ही बिस्तरे पर लेट गयी। बाहर किसी ने हल्का-सा दरवाज़ा खटखटाया। मैं चौंक पड़ी। "कौन ?"—मैंने पूछा।

धीरे से आवाज़ आयी "मैं, रूपो।"

मैंने पास पड़ी चादर लपेट ली और उठकर दरवाज़ा खोला। रूपो अन्दर आयी। वह रो रही थी, रोये जा रही थी। आते ही वह मेरे पाँव पर गिर पड़ी। और फूट-फूटकर रोते हुए बोली, "मेरी लाज रख लो भाभी, मैं मर जाऊँगी। किसी से कह दिया तो मैं कहीं की न रह जाऊँगी।"

मेरी समझ में जब तो कोई बात न आयी। किन्तु हम औरतें....मैंने यों ही कह दिया, "नहीं मैं किसी से न कहूँगी...." और फिर यों ही.... "क्या हुआ ?"

रूपो बोली, तुम ठीक कहती हो, भाभी, वह मुझे जानता था।"

"वह कौन ?" मैंने पूछा।

"अब बनो मत !" रूपो बोली, "वही मटकी फोड़।"

'तेरा सत्यनाश !'— मैंने दिल में कहा।

रूपो बोली—"जब भी मैं राधा बाज़ार से गुज़रती, वह नाके पर मुझे मिल जाता। इशारे करता, सीटियाँ बजाता; किन्तु मैं पास से गुज़र जाती, बुरे-बुरे मुँह बनाती, गालियाँ देती। लेकिन, आज, पता नहीं मुझे क्या हुआ, मैं भीड़ में चली गयी। केवल उसके एक उँगली उठाने पर....और फिर हम दोनों भीड़ से निकल गये और शिव मन्दिर में चले गये, जहाँ यात्रियों के लिए कोठरियाँ बनी हैं। मैं काँपती जा रही थी। अन्त में मैंने सोचा भी कि भाग खड़ी होऊँ। लेकिन मुझसे कुछ करते न बना....उसके बाद हम अन्धे हो गये....

मैं सच कहती हूँ, बालू की माँ, मेरा सारा शरीर काँपने लगा। पहले मुझे गुस्सा आया। घृणा उत्पन्न हुई। फिर सब कुछ जाने अपने-आप ढल गया। मैं जी-ही-जी में अपनी मूर्खता पर हँसी। मुझे तभी क्यों न पता चला, जब मैंने रूपो से यह सब कहा था। अभी बारह दिन ही तो हुए जब रूपो नहायी....और आज...."अच्छा, अच्छा....तू चिन्ता न कर।" मैंने रूपो से कहा, "तूने कौन-सा काम किया है, जो किसी माँ की बेटी ने नहीं किया। लेकिन अब तू अपने-आप को सम्हाल, महीना भर अपना हाल बताती रहना, मुई ! कुछ हो गया, तो कहीं की न रह जायेगी। सबेरे मैं तुझे मेथरे उबालकर दे दूँगी। अब तू सो रह, यहीं, मेरे पास, कहाँ जायेगी इस अँधेरे में ? सब सोचेंगे, यह क्या हो रहा है, कौन चल रहा है इस आधी रात के समय ?

"और सुन ! मैं तेरे ब्याह की बात-चीत चलाऊँगी। तू ऊँ-आँ न कीजो, करना भी है, तो बस दिखावे के लिए, उतना ही, जितना हम सभी करते हैं। मटकी-फोड़ कोई योंही-सा है, राज-मज़ूर, उसकी तो सोच भी मत ...हाँ....जो बात नहीं अच्छी है, नहीं अच्छी है और जो अच्छी है, सो अच्छी है। भगवान् ने तो पुरुष के लिए स्त्री बना

दो और जब से दुनिया बनी है, वह एक-दूसरे के पीछे भाग रहे हैं और भागते रहेंगे, जैसे चाँद-सूरज भागते हैं, लेकिन वह भी एक रास्ते पर जाते हैं, यह नहीं, इस गली, उस बाज़ार से रास्ता काटा और पकड़ लिया एक दूसरे को। ऐसा हो तो यह दुनिया, यह संसार, यह धरती, यह आकाश, सब नष्ट हो जायें। साल के दिन ही कितने होते हैं? तीन सौ पैंसठ। इन तीन सौ पैंसठ दिनों में एक बार चाँद सूरज को और एक बार सूरज चाँद को पकड़ लेता है, और बस....

"इस लिए मनुष्य ने इस चाँद-सूरज का भी रास्ता बना दिया है और वह है ब्याह का रास्ता, इसके सिवा कोई दूसरी चीज़ नहीं, ब्याह होता है, तब माँ, बाप, भाई, बहन स्वयं लड़की का हाथ लड़के के हाथ में दे देते हैं....फिर तो कोई राजा, महाराजा, जज, दीवान भी कुछ नहीं कर सकता।"

और मैंने रूपो को छाती से लगा लिया। उसकी बहुत कुछ तसल्ली हो गयी थी। मेरे पास पड़े-पड़े वहीं सो गयी....नींद न आयी मुझे। यों-ही जमुहाइयाँ लेती इधर-से-उधर और उधर-से-इधर करवट बदलती रही। कभी-कभी मेरा हाथ रूपो के शरीर पर पड़ जाता, किन्तु वह बेहोश पड़ी थी, सब-कुछ कह-सुन कर एक सुख की नींद ले रही थी और मैं....

मटकी-फोड़....रूपो के भैया....रूपो....आईने में अपना शरीर, सभी कुछ सामने घूमता रहा। फिर मैं सोचने लगी। यह जो रूपो से कहती रही हूँ, सच भी है और झूठ भी। सच इसलिए कि कोई नियम होना चाहिए। योंही पुरुष-स्त्री एक-दूसरों से मिलते फिरें...तो सन्तति को कौन सम्हाले, परिवार कैसे बनें....? और झूठ इसलिए कि ब्याह के एक-दो साल तक सब ठीक रहता है। फिर धीरे-धीरे स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को इतना जान लेते हैं कि फिर कुछ जानने की बात

ही नहीं रहती। जैसे कोई आदमी हर साल आबू जाया करे या सांसर तहसील के हज़ारों चक्कर काट डाले। फिर मसूरी की घाटियों पर चढ़ने का मज़ा है, नहीं आत्मा सो जाती है और हौले-हौले शरीर भी.... मुर्दा हो जाता है, तभी तो....किसी दूसरे का हाथ लगे, तो शरीर और आत्मा दोनों चौंककर जाग उटते हैं। वैवाहिक जीवन में यह सब हो सकता है, यदि स्त्री मायके ही जाती रहे, या मर्द दौरे पर चढ़ा रहे, किसी ऐसी बड़ी रेलवे का गार्ड हो, जो महीनों बाद घर लौटती हो ....तब भी परिवर्तन प्रकृति का नियम है....सदा गर्मी नहीं रहती, न सर्दी रहती है....शुक्ल पक्ष की रात का अपना जादू है और कृष्ण पक्ष की रात का अपना....साँप की खाल भी अच्छी है और मोर के पंख भी। फिर रंग हैं, खुशबूएँ हैं, स्वर हैं....अनजाने, अनगिनत....

शादी बहुत अच्छी चीज़ है, किन्तु क्या आनन्द नहीं आयेगा यदि इसमें थोड़ा-सा परिवर्तन हो जाये? ये पुरुष-स्त्री दोनों से एक ही बात कहें—इस छत के नीचे तुम दोनों रहोगे। यहाँ जो सन्तान उत्पन्न होगी, मनुष्य की ही होगी। मर्द बाहर काम पर जाया करेगा, स्त्री घर सम्हालेगी और बस....हे भगवान! मैं क्या कुछ कह गयी। किन्तु, बालू की माँ, मैं सच कहती हूँ, मुझे कई बार खयाल आता है, मैं इनकी पत्नी होने की जगह प्रियतमा होती तो कितनी प्रसन्न रहती!

सारी रात मैंने जाग कर काटी, सारी रात मैं सूली पर टँगी रही। जब भोर हुआ तो ये चले आये। मैं लपककर दरवाज़े की ओर गयी, किन्तु उन्हें मुझसे बात थोड़े करनी थी। मेरी ओर तो देखा भी नहीं। आँखो-ही-आँखों में इतना ही कह देते कि हाँ, भाई, तू भी कोई है। बाहर जानेवाले का क्या है, हज़ार रूप देख के आता है। हम ही घर में एक-दूसरे का मुँह ताका करती हैं और पड़े-पड़े बासी रोटी की तरह

हो जाती हैं, हाथ लगाओ तो ठंडी-ठार, खाओ तो गर्म....

रेंड़ी का सौदागर ! हुँ !....पगड़ी तो देखो, कैसे पेंच-के-पेंच गले में पड़े हैं। जैसे मार खा के आया है और मुँह पर इंजन के कोयले का बुरादा पड़ा है....यमदूत मालूम होता है....कमरे में और किसी को जाने का साहस न था, सिवाय दद्दा के....दद्दा गयीं, तो उनसे बोले, "दद्दाजी, उसे कहो, कच्ची लस्सी का गिलास बना दे।"

उस सारी घृणा के बावजूद मैं अपने-आप चल दी लस्सी बनाने। वही शताब्दियों की आदत ! पल भर में थोड़े ही चली जाती है। मैंने जी में कहा, बड़ा आया है हुकुम चलाने, जैसे कोई लौंडी-बाँदी हूँ, हाथ जोड़े खड़ी हूँ, आदेश की प्रतीक्षा में ! किन्तु मैंने जल्दी से कच्ची लस्सी बना डाली। रूपो अभी जागी थी। लपक के बाहर जो निकली, तो गिलास से टकरायी। लस्सी से मेरे कपड़े तर हो गये....फिर जो बची थी, भेज दी।

मैं तुमसे सच कहती हूँ, बालू की माँ ! रात तक बाप और दोनों बेटे बाहर नहीं निकले। आपस ही में कुछ खुसुर-फुसुर करते रहे। मैंने सोच लिया, या घर सोने की ईंटों से भर गया और या फिर सब कुछ बिक गया। यह रेंड़ी चीज़ ही ऐसी है। यदि तुम उसे देखो, तो बिलकुल पता नहीं चलता कि वह किसी की क़िस्मत बना सकती है और बिगाड़ सकती है। हमारे देश की रेंड़ी तोड़िये, तो मूँगफली, इसमें वह ताक़त है, जो किसी दूसरे देश के दूध-मलाई में नहीं। किसान हल जोतते हैं....बीज बोते हैं, कारखाने में मज़दूर काम करते हैं। लेकिन उनके भाग्य का निर्णय इन कमरों में बैठे-बैठे वे लोग कर डालते हैं, जो हल चलाने में नहीं, बोने में नहीं, मेहनत-मजूरी करने में नहीं !

मैं चाहती थी, बाहर आयें, तो आज उनसे दो बातें करूँ और कहूँ, पैसे के पुजारियो ! ऐसी दुनिया भी है, जो पैसे के सामने माथा नहीं

टेकती, जेब से पैसे निकालकर यों फेंक देती है—आगे। देखो तो तुम्हारे घर में क्या हो रहा है, मोहरें, सोने-चाँदी, हीरे-जवाहर की खान में तुमने हम सब को बन्दी बना रखा है और हम भूखों मर रही हैं, हीरे-जवाहर तो नहीं खा सकतीं।

वे निकले....बाप और दोनों बेटे। न चेहरे पर खुशी, न दुख। और फिर घर से बाहर चल दिये। हम स्त्रियाँ हक्का-बक्का खड़ी रह गयीं। सोचने लगीं, आज अरहर में कुछ काला-काला है! दद्दा आयीं और बोलीं, "रेंड़ी में दस-बारह लाख का घाटा पड़ा है और ये लोग दीवाले के काग़ज़ लिखने जा रहे हैं। कल कचहरी खुलेगी तो दाख़िल कर देंगे।"

दीवाला !....ऐसे क्या देख रही हो बालू की माँ ? तुम्हारे लिए दीवाला मर जाने की बात है, इन सेठों के लिए नहीं। ये तो जितने दीवाले निकालें, उतने ही अमीर समझे जाते हैं। बात यह है, हर दीवाले में ये कुछ ऊपर-नीचे कर जाते हैं, जिससे लाख-दो-लाख का मुनाफ़ा होता है, नुक़सान नहीं। इससे पहले मेरा ससुर और उसके बेटे चार दीवाले निकाल चुके थे और यह यह पाँचवाँ था।

रात भर ये मर्द लोग न आये। दिन भर कचहरी में रहे। शाम को मैं उसी बारजे में बैठी थी, सामने अपने ससुर को देखा, कमर के पेंच ढीले करते हुए। मेरे जेठ की मोटे शीशेवाली ऐनक नाक की चोंच पर आ गयी थी और मुँह पर थोड़ी और कालिख पुत गयी थी।

दो साल तक उन्होंने रूपा का कुछ न किया। मैंने पहले उस बेचारी के ख़याल से साफ़-साफ़ कुछ न कहा। इशारे-इशारे में सब कह दिया। लेकिन उन्होंने मेरी न मानी। कोई धनी घर देखने में समय व्यर्थ गया। रूपा ने इतने अर्से में ज़मीन-आसमान एक कर

दिया। उसे अब हर व्यक्ति मटकी-फोड़ नज़र आता था। कब तक गली-मुहल्ले की नज़रों से यह बात छिपी रह सकती थी। अन्त में एक दिन तीनों बाप-बेटों ने मिलकर रूपा को खूब पीटा। छुड़ाने में मुझे भी पड़ गयीं। फिर उन्होंने उसे एक कोठरी में बन्द कर दिया।

रूपा को तो कुछ अधिक महसूस न हुआ, मैं पागल हो गयी। अन्दर जाती तो रो लेती; बाहर आती तो रो लेती। मैंने सास की खुशामदें कीं, दद्दा के सामने माथा रगड़ा और कहा, क्या यह ज़रूरी है? अच्छा-सा लड़का देखो, जो खाता-कमाता हो। बाप सेठ न हो तो किसी अच्छी नौकरी में हो। किन्तु वे किसी ऐसे की खोज में थे, जो उनकी जात-बिरादरी का हो, जिससे व्यापार का नाता भी बढ़े, किन्तु ऐसा कोई न था। था भी तो बड़ी नाक वाला, बहुत पैसे माँगता था....लाख-दो-लाख की भी बात नहीं, पन्द्रह लाख!

रूपा खुल-खेलने लगी। उसने साफ़ कह दिया, ब्याह करूँगी तो उसी मटकी-फोड़ से। मटकी-फोड़ का असल नाम शीतलदास था और वह आतिशबाज़ी की दूकान का मालिक था। आमदनी कोई इतनी अधिक न थी, लेकिन दीवाली के इधर-उधर इतना पैसा कमा लेता था कि साल भर के लिए काफ़ी हो। स्वयं तो शीतलदास था, पर काम हवाई पटाखे का। अपना मन शीतल हो या न हो, लेकिन दूसरे का ज़रूर कर देता था....देवल नगरी में दो-चार ही बाँके थे, जिनमें से एक वह भी था। हर खेल-तमाशे में आगे। रास-लीला का प्रबन्ध उसी के सुपुर्द। वह महाभारत का कंस था और रामायण का रावण!

लेकिन रूपा अब उससे न मिल सकती थी। न उसे गोकुलाष्टमी के दिन साँवलदास के देवल में जाने की आज्ञा थी और न रामलीला-दशहरे में हिस्सा लेने की छुट्टी। मुझे तो उसे देख-देख कर तरस

आता था। मेरे मन में जाने क्या विद्रोह की लहर उठी। शिव मन्दिर जाने के बहाने मैंने कपड़े आदि पहने और चली गयी। शीतल की दुकान राधा बाज़ार और रघुनाथ बाज़ार के संगम पर थी, जहाँ महाबीर जी का मन्दिर है, लाल रंग बिखरा रहता है और हर आते-जाते को लगता है। कार-व्यवहार पर आने-जाने वाले लोग वहाँ थोड़ी देर के लिए खड़े होते हैं, हाथ जोड़ते हैं, आँखें बन्द करते हैं, ज़ंजीरों के साथ लटकी हुई घंटियों को बजाते हैं और चल देते हैं। मैं जाकर शीतल की दुकान पर खड़ी हो गयी। कई लड़के उसकी दुकान पर काम करते थे। वह केवल अपने बालों में कंघी कर रहा था और लड़कों को गालियाँ देता था। दशहरे के इधर-उधर के दिन थे और शीतलदास दुकान के सामने टोकरे में बाँस और काग़ज़ रखे हुए था। मेघनाद बन चुका था, अब रावण बनने जा रहा था।

मुझे सामने देखकर वह बोला, "क्या चाहिए? फुलझड़ियाँ?"

मैंने कहा, "फुलझड़ी लेने नहीं आयी, फुलझड़ी देने आयी हूँ।"

वह कुछ न समझा। दुकान से नीचे उतर आया। मेरा तन-बदन काँप उठा। मैं परे मुँह करके रावण के ढाँचे को देखने लगी, जिसने तबेले का तीन चौथाई हिस्सा घेर रखा था, दस सिर लगने वाले थे और ऊपर गधे का सिर लगने से पूरा तबेला घिर सकता था। मैंने जल्दी-जल्दी शीतल के सिर की तरफ़ देखा, जिस पर हर साल मटकियाँ फोड़ने से छोटे-छोटे घावों के निशान पड़ गये थे। फिर मुझे जो कहना था, चुपके से कह दिया। शीतलदास का चेहरा चमक उठा और मैं चल दी।

शाम को भाट चले आये, जो हर साल हमारे घर में आल्हा-ऊदल सुनाया करते थे और जिसे सुनकर हमें बड़ा जोश आता था। इनमें से एक था, जो खंजड़ी बजाता था और वह शीतल था। चूंकि

ये सब लोग घर के अन्दर थे, इसलिए रूपा उन्हें देख सकती थी। शीतल को देखते ही वह काँपने लगी। उसने मेरी तरफ़ देखा, मैं मुस्करा दी।

घर भर में कोई भी शीतल को न पहचान सका, न पड़ोसिनें उसे जान पायीं। कमबख्त ऐसा बहुरूपिया था कि किसी को सन्देह भी न हुआ। एक पहचाना तो पहचानने वाली ने, जो उसके एक-एफ बल को जानती थी। रूपा अन्दर भागने लगी। मैंने इशारे से मना कर दिया।

मैं कहती हूँ बालू की माँ! मुझे इसमें ज़रा भी शर्म न लगी और न मुझे महसूस हुआ कि मैंने कोई पाप किया है, उलटा ऐसा जान पड़ा जैसे कोई बहुत बड़ा पुण्य का काम कर रही हूँ। हमारे शास्त्र इस तरफ़ थे....और दद्दा, सास, जेठानी, ससुर, जेठ, ये, वे, सब दूसरी तरफ़.... मैंने समय का ऐसा निश्चय किया था कि उनके शुरू करने से ख़त्म करने तक रात हो चुकी थी। उसके बाद मैंने देखा कि स्त्रियों में से रूपा गुम है और पुरुषों में से शीतल। बाक़ी भाट तुलसी जी में से कुछ पढ़ते रहे....

जब बहुत देर तक न आये तो मैं घबरा गयी। उठकर गयी तो देखा, रूपा अपने कमरे में लेटी हुई छत को ताक रही है। मैंने इशारे से पूछा, वह कहाँ गया तो रूपा ने बताया, पीछे सीढ़ियों के रास्ते में ग़ायब हो गया है। मैं समझी बस मिल लिये दोनों, और कोई बात नहीं हुई। मुझे क्या पता, बात कहाँ से कहाँ जा पहुँची है।

घर के मर्द लोग पीढ़ी पर से चले आये। मैं सच कहती हूँ, उस दिन मुझे रूपा के भैया बुरे न लगे। इन्हें स्वयं बहुत अचरज हुआ कि यह आज इतना फुला क्यों रही है? मैं बहुत प्रसन्न थी, जैसे मुझे कुछ मिल गया है। मिल भी जाता तो बालू की माँ. अपने आदमी

के लिए मेरे दिल में प्यार कम हो जाता ? बिलकुल नहीं, उलटे बढ़ता ही। मैं सोचती, मैं क्या कर आयी हूँ ? इन बेचारों को क्या मालूम ? जो लोग स्त्री को जननी नहीं समझते, व्यापार जायदाद की चीज़ समझते हैं, जिनके दिमाग़ में विवाह का वही पुराना विचार घुसा हुआ है, जो आज से हज़ारों साल पहले था, उन्हें इस बात की क्या समझ ?

रात दो बजे मैं हड़बड़ा कर उठी। घर भर में शोर मचा हुआ था। रूपा शीतल के साथ भाग रही थी कि पकड़ी गयी। मेरे हाथ-पाँव ठण्डे हो गये। रूपा से अनेक प्रकार के प्रश्न किये जा रहे थे। लेकिन उसने एक ही चुप लगा रखी थी, ढीठ बन गयी थी। उसके भाव कुछ ऐसे थे कि कर लो जो मेरा करना है। मैं तो वही करूँगी, जो मेरे मन में है।

एक बात अच्छी हुई जो शीतल निकल चुका था। उसके बारे में किसी को पता न चला।

अब सबके हाथ-पाँव ठण्डे पड़ गये। संयोगवश दूसरे ही दिन घर के नाई ने बालाघाट में एक सम्बन्ध बता दिया। ऐसे सेठ का नाम लिया, जिसके छै दीवाले निकल चुके थे और जो बिनौलों का व्यापार करता था...सब कुछ जल्दी ही में तय हो गया। रूपा को मनाने का काम मुझे सौंपा गया। रूपा कुछ मानी, कुछ न मानी और कुछ दिनों में बरात भी दरवाज़े पर आ गयी....

मैंने लड़का देखा तो मेरी तबीअत ख़ुश हो गयी। वह शीतल से कुछ नहीं तो दस गुना सुन्दर था, लम्बा-चौड़ा। मैं रूपा के पास भागी गयी और उसे सब बता दिया। रूपा मुस्करा दी—एक रूखी-फीकी मुस्कराहट। मैं तो नाच उठी, जैसे रूपा की नहीं, मेरी शादी होने जा रही है।

तुमने वह शादी तो देखी है, जो देवल नगरी में यादगार रहेगी। इनके पिता ने वही किया, जो हमारी जात-बिरादरी के लोग करते हैं। एक लाख रुपया लगा दिया। घर में किसने नहीं खाया ? कौन नेग लेकर नहीं गया ? हमें छेड़ने को पूरी बरात मिली, और फिर वह.... दूल्हों का दूल्हा ! वह चहल-पहल हुई, वह शोर मचा कि बस....बैंड बाजे, गाने, रोशनियाँ। मेरी जेठानी के बच्चे खुश थे। मैंने बलराम को बुलाया और कहा, "देख, नन्हे ! तेरी बुआ की शादी हो रही है।" उस बेचारे को क्या पता, क्या हुआ और क्या नहीं हुआ और क्या होने जा रहा है। वह तो खुश था, हाथ में एक बड़ा-सा लड्डू थामे। उसने केवल इतना कहा, "मैं भी सादी करूँगा चाची।"

मैंने कहा, "किससे ?"

बोला, "बुआ से।"

"हुश्त !" दद्दा, जो पास खड़ी थीं, बोलीं।

डोली गयी। वह आतिश बाज़ी छूटी कि राम-राम ! पाँच हज़ार का ठीका मैंने उनसे कह-सुनके शीतल को दिलवाया था और वह स्वयं अपने सामने चक्कर चलवा रहा था, जिसमें से सात रंग के फूल निकलते थे....डोली गयी।

कहीं महीने-दो-महीने के बाद रूपा आयी। उसके चेहरे पर रंग ही और था। लड़के ने उसे और उसने लड़के को खूब पसन्द किया था। रूपा के पाँव ज़मीन पर नहीं टिकते थे।

अब मैं उसके सामने यहाँ के मटकी-फोड़ का नाम लेती, तो रूपा स्वयं ही मुँह पर उँगली रख लेती। मैंने रूपा से कहा, "रूपो, देखा.... मैं न कहती थी ?"

रूपा बोली, और तो कोई बात नहीं भाभी। ये मुझसे प्यार करते हैं, पर दब्बू बहुत हैं। घर में कमाने वाले मेरे ससुर हैं और इनके बड़े

भाई। इसलिए हर छोटी-बड़ी बात के लिए इन्हें उनके सामने सिर झुकाना पड़ता है। फिर मुझे ऐसा मालूम होता है कि उस घर के बड़े हमसे कुछ और चाहते हैं...."

"और वह तुम्हारा...." मैंने शरारत से पूछा।

"वह तो कुछ नहीं चाहते, बस...." रूपा ने कहा और मेरी ओर देखकर हँस दी। फिर बोली, बहुत वह करोगी भाभी, तो मारूँगी।

मैं मारे खुशी के रो दी। लेकिन क्या पता था, हमेशा के लिए रोना पड़ जायगा। हाय ये मर्द !....रूपा चार महीने से यहाँ है और कोई लेने वाला नहीं आया। वे रुपया माँगते हैं और ये देने को तैयार नहीं। रूपा ने ठीक ही कहा था, लड़का दब्बू है। बात इतनी है कि अच्छे रूप जवानी से कुछ नहीं होता। जब तक आदमी आज़ाद न हो, सब व्यर्थ है।

इन्हीं कुछ महीनों में रूपा आधी रह गयी है। वह बारजे से भी नीचे नहीं झाँकती, हालाँकि हर दूसरे-तीसरे रोज़ देवलनगर का बाँका, शीतल आतिशबाज़, प्यार के गाने गाता निकल जाता है। कल सबेरे मेरे ससुर आये, बहुत खफ़ा मालूम होते थे। उस नाई को गालियाँ दे रहे थे, जिसने यह सम्बन्ध कराया। कह रहे थे, "हम लड़की को कभी न भेजेंगे, चाहे सारी उमर यहीं बैठी रहे। हमारे साथ धोखा हुआ है। रूपा के ससुर का एक भी दीवाला नहीं निकला है...!"